Chapter-1

मानस में भक्ति और निहित दर्शन का अनुशीलन

प्रथम अध्याय

भक्ति सैद्धांतिक चर्चा

भक्ति की व्याख्या और स्वरुप / विद्वानों के मत से भक्ति की विविध परिभाषाएँ / भक्ति के लक्षण / भक्ति के प्रकार / भक्ति का रहस्य ।

भक्ति की परंपरा / भक्ति की उत्पत्ति के विषय के पक्ष-विपक्ष में विविध विद्वानों के मत / वेदो में भक्ति / उपनिषदों में भक्ति / पुराणों में भक्ति / रामायण में भक्ति / गीता में भक्ति / नारद भक्ति सूत्र में भक्ति / शांडिल्य की भक्ति / साहित्य में भक्ति - निर्गुणधारा - कबीर, जायसी / सगुण धारा-राम भक्ति शाखा - तुलसी / कृष्ण भक्ति शाखा - सूर, रसखान, मीरा ।

भक्ति – सैद्धांतिक चर्चा

भक्ति की व्याख्या और स्वरुप

'भक्ति' पद संस्कृत के 'भज्' धातु में 'क्ति' प्रत्यय के योग से बना है। प्रत्यय का अर्थ है प्रेम और धातु का अर्थ है सेवा करना । सामान्य नियम यह है कि धातु और प्रत्यय के योग से एक संपूर्ण अर्थ निष्पन्न होता है, और अर्थ में प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान रहता है । अतः भक्ति का अर्थ हुआ सेवा करना ।[१]

सेवा शारीरिक क्रिया है । इस सेवा में ह्रदय का भाव प्रवाह जब मिलता है तब वह सच्ची सेवा बन जाती है । प्रेम की पूर्णता सेवाभाव में ही है ।[२]

नारदीय पञ्चरात्र के अनुसार संपूर्ण इन्द्रियों को माया के बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके अनन्यमनसा हृषीकेश भगवान का आराधन करना ही भक्ति है । भक्ति के साम्राज्य में भोक्ता और भोग्य – दोनों ही पारस्परिक साहचर्य जन्य आनंद का उपभोग करने के लिये चिन्मयदेहेन्द्रियविशिष्ट होते हैं ।

[३]पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'भज सेवायाम्' धातु से स्त्रियांक्तिन् प्रत्यय लगाने से अर्थ होता है – वह उपाय जिस के द्वारा आनुकूल्य – संपादन किया जाता है । यह अनुकूलता अनेक विषयक होती है । विषय भेद से भक्ति का स्वरुप भेद और नाम भेद भी होता जाता है ।

---

१. संस्कृत हिन्दी शब्दकोष – श्री वामन शिवराम आप्टे पृ. ७२६

२. त्रिदण्डिस्वामी श्री भक्तिविलास तीर्थजी 'कल्याण' भक्ति अंङ्क पृ. १५

३. श्री शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी । भक्ति अंङ्क – पृ. ३

अष्टाध्यायी के अनुसार ''भज्य ते सेव्यते इति भक्ति'', है ।

भक्ति शब्द साध्या या प्रेमा भक्ति का द्योतक है तथा अधिकरण में प्रयुक्त 'क्तिन' प्रत्यय से निष्पन्न भक्ति साधन भक्ति को लक्षित करता है ।[2]

''पूज्येष्वनुरागो भक्तिः'' – अर्थात् पूज्यवर्ग में अनुराग का नाम भक्ति है । – इस वचन के अनुसार वह अनुरक्ति भगवद्विषयिणी, शास्त्रविषयणी गो-ब्राह्मण तथा माता – पिता 'विषयिणी'' होने पर भक्ति-पद वाच्य होती है । वही पुत्र – विषय त्वेन वात्सल्य रति, इष्टविषयत्वेन प्रेयोरति, मित्र स्नेह विषयिणी सख्य-रति तथा सेव्य-सेवक-भाव-संबन्धिनी दास्य-रति कहलाती है ।[3]

'तत्वमसि' के उपासक वेदान्ती लोग – 'स्वस्वरुपानुसंधान भक्तिरित्यभिधीयते' – अपने स्वरुप में अनुसंधान ही भक्ति कहते हैं ।

शांडिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'परानुरक्तिरीश्वरे'। अर्थात् ईश्वर के प्रति परानुरक्ति ही भक्ति है । इस प्रकार आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है ।

---

१. अष्टाध्यायी४/३/९५

२. श्री राम चरित मानस में जीवन मूल्य डॉ. अमितारानी सिंह – पृ. ४४

३. 'कल्याण' – लेख, भक्ति और शंकराचार्य पृ. ३

४. शांडिल्यभक्ति सूत्र ।

संक्षेप में हम भक्ति को भजन का पर्याय कहेंगे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । उपासना, अनुरक्ति, सेवा आदि सभी शब्द भक्ति के पर्याय से ही है। भक्ति का एक अर्थ सन्मान, पूजा, श्रद्धा भी होता है । अपितु इन सभी शब्दो में अल्प अंतर है । इसलिये हमें भक्ति के विषय में विस्तृत विचार करने के पूर्व हमारे विभिन्न आचार्यों ने जो भक्ति की परिभाषाएँ दी है इसे समझ लेना आवश्यक है ।

विद्वानों के मत से भक्ति की विविध परिभाषाएँ

भक्ति शब्द का अर्थ विभिन्न शब्दकोषों में 'अनुराग', 'पूजा', 'उपासना', आदि दिया गया है । परंतु बात को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिये हम कुछ आचार्यों के मतों को देखेंगे -

१. श्रीमद्‌भगवद्‌गीताकार - ''मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्‌भक्तः स मे प्रियः'' अर्थात् जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दिया, वह भक्त मुझे प्रिय है ।

२. पराशर्य - ''पूजादिष्वनुराग इतिपराशर्यः'' अर्थात् पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है ।

---

१. श्रीमद् भगवद्‌गीता - अध्याय १२/१४

२. नारद भक्ति सूत्र - १६

३. शांडिल्य – ''सा परानुरक्तिरीश्वरे'' अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रुपा है ।[१]

४. नारद – ''सा त्वस्मिन् परमप्रेम रुपा, अमृत स्वरुपा च । तत्रपि महात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणामिव । अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम प्रेमरुपा और अमृत स्वरुपा है । फिर भी महात्म्यज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए । अन्यथा वह व्यभिचारियों के प्रेमतुल्य हो जायेगी।[२]

५. वल्लभाचार्य –

''महात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकाः ।

स्नेहीभक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।।''

अर्थात् भगवान् में महात्म्यपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है । मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं ।[३]

६. आचार्य रामचंद्र शुक्ल – श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।[४]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों तत्वों का संमिश्रण होना अनिवार्य है । दोनों में से किसी भी एक तत्व न होने पर वह अधूरी रह जायेगी ।

---

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र –२

२. नारद भक्तिसूत्र – २/३

३. तत्वदीप निबन्धःश्लोक ४६

४. निबंध श्रद्धा और भक्ति – आ.रा.चं. शुक्ल ।

इस प्रकार हम गीताकार शांडिल्य, नारद, पराशर्य, वल्लभाचार्य, एवं अन्य अनेकानेक विद्वानों के भक्तिपरक विचारों का अध्ययन करने के बाद कह सकते हैं कि भक्ति की वेदी पर तन, हृदय, बुद्धि तीनों को समर्पित करना अनिवार्य है । इतना ही नहीं परंतु यह समर्पण पूरी श्रद्धा के साथ होना चाहिए । श्रद्धा के विना यह समर्पण कोरा या अधूरा रह जाता है ।

समर्पण में, स्वयं का, स्वयं की प्रत्येक और प्रियवस्तु का, अपने सामान्य - असामान्य गुण-दोषों का, एवं न्यूनताओं और निपुणताओं का उसे अपरिच्छिन्न प्रभु के प्रति सर्वात्मना सर्वाङ्गींण समर्पण होता है । यह सर्वातिशायी मनोरम सिद्धांत है । और इस प्रकार का आत्मसमर्पण आत्मोत्सर्ग का अत्यंत विशुद्ध रुप है ।

अपने को जीव जब प्रेम और करूणासिंधु ईश्वर के पादपद्मों में सर्वभावेन अपने व्यक्तित्व का समर्पण करके भगवत्संकल्पानुसारी बन जाता है तब वह स्थिति भक्ति कहलाती है । और फिर एक ऐसी स्थिति का सृजन होता है जहाँ भक्त भगवान पर्याय जैसे बन जाते हैं । भगवान भी भक्त की भांति ही भक्त की रक्षा में तत्पर रहते हैं ।

क़तरा दरिया में मिल जाये तो दरिया बन जाये
काम वही अच्छा है जिसका मुआल अच्छा हो ।

भक्ति के लक्षण

भक्ति रसामृतसिन्धु में श्री रुपगोस्वामीने भक्ति के प्रभाव की चर्चा करते हुए उसके छः लक्षण बताये हैं।

१. भक्ति सब प्रकार के दुःखों का नाश करती है ।
२. यह संपूर्ण कल्याण को देनेवाली है ।
३. यह अत्यंत ही दुर्लभ है ।
४. यह घनीभूत आनंद है ।
५. यह श्रीकृष्ण भगवान को भी आकर्षित करनेवाली है ।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्री कृष्णाकर्षिणी च सा ॥ (भक्तिरसामृतसिंधु)

भक्ति के प्रकार :-

पर और अपर के भेद से भक्ति दो प्रकार की है ।

(१) पराभक्ति :- 'यस्य देवे पराभक्ति' - आदि श्रुति-प्रमाण सिध्द परा भक्ति ही ज्ञानपद वाच्य है ।

देवीभागवत में भगवती स्वयं हिमालय के प्रति कहती है कि भक्ति की पराकाष्ठा ही ज्ञान है ।[1] इससे पराभक्ति तथा ज्ञान की एकरुपता सिद्ध होती है ।

(२) अपराभक्ति :- अपराभक्ति के देवी भागवत में बहुत से भेद दिखलाये गये हैं । विहित और अविहित भेद से वह पहले दो प्रकार की है । शास्त्रानुमता भक्ति तो विहित है और स्वेच्छानुमता अविहित है । विहिता भक्ति सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तिफल प्रदान करनेवाली होती है, इस लिये वह व्यासादि महर्षियों को अभिमत है। पुराणों में महर्षियों द्वारा उसके अनुसरण की बात भी मिलती है । भक्तों को उसी का अनुवर्तन करना चाहिए।

श्री चैतन्य महाप्रभुजी के मत से भी भक्ति दो प्रकार की है ।

(१) वैधी (२) रागानुगा । - उक्त दोनों प्रकार वैसे तो उपरोक्त विहित और अविहित के पर्याय के समान ही है । पहले प्रकार को वैधी इसलिये कहा गया है कि इसमें प्रवृत्त होने की प्रेरणा शास्त्र से प्राप्त होती है, शास्त्र में इसके विधि विधान मिलते हैं । माना जाता है कि जिसकी बुद्धि तर्कशील है, जिसे शास्त्र का ज्ञान है, जिसका विश्वास दृढ़ है और जिसकी वैष्णवधर्म में परम निष्ठा है, केवल वही साधक वैधी-भक्ति का अधिकारी है ।

रागानुगा वैधी - भक्ति से भिन्न है । राधाजी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम इस दूसरे प्रकार की भक्ति के सर्वोत्कृष्ट एवं गूढ़तम रुप का निदर्शन है ।

श्री रुपगोस्वामीने तीन प्रकार की भक्ति बतायी है ।

(१) साधन भक्ति (२) भाव भक्ति (३) प्रेम भक्ति ।

---

१. भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञाने प्रकीर्तितम् । दे.भा. ७/३७

भाव भक्ति अथवा साध्यभक्ति जो नैसर्गिक और भावावेश की अवस्था है। किसी प्रकार के साधन अथवा प्रयत्न के द्वारा साध्य नहीं है ।

रागात्मिका भक्ति स्वाभाविक आसक्ति का नाम है । यह आसक्ति जब आदर्श बनकर, भक्त बाह्य उद्देश्य को न रखकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है जब वह रागानुगा भक्ति कहलाती है ।

भक्ति वह शक्ति है जो ईश्वर को हमारे साथ गठबंधन कर देती है । प्रेम के शाश्वत बन्धन द्वारा भक्त आदि से अन्ततक के अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र बनाये रखता है । इसका तात्पर्य वह है कि वह ईश्वर को आराध्य रुपमें अपने से भिन्न रुप में देखता है । प्राकृत गुणधर्मो से छुटकारा पा लेने पर तो उसकी भक्ति उलटे विशुद्ध रुप में अनन्त काल तक प्रवाहित होती रहती है ।

ईश्वर के प्रति हमारे मन की अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेम–भक्ति कहलाती है । यह पांच प्रकार की है । (१) शान्त (२) दास्य (३) सख्य (४) वात्सल्य (५) माधुर्य

वृंदावन की गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम इस प्रेम भक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है ।

सच्ची भक्ति भावना का उदय होने पर भक्त सब प्रकार की इच्छाओं कामनाओं को, सब प्रकार की बाह्य सामग्री तथा सारे ज्ञान और कर्म के त्यागकर बस, एकमात्र ईश्वर में अनुरक्त हो जाता है । भक्ति की पूर्णता के लिये कोई खास विधि विधान या अनुष्ठान अनिवार्य और आवश्यक नहीं है ।

भक्ति मार्ग तो भगवान के नाम और गुणों का श्रवण और संकीर्तन ही एकमात्र कर्तव्य बताया गया है । भक्ति तो स्पष्टतः अतिन्द्रिय व्यापार है । ईश्वर के शाश्वत साहचर्य में रहना ही भक्ति है । क्योंकि ईश्वर स्वयं गुणातीत है, अतः ईश्वर के साहचर्य अथवा ईश्वर में स्थिति का अर्थ भी अनिवार्यतः गुणातीत स्थिति ही है ।

श्री चैतन्यमहाप्रभुजी, संत मीरा, नरसिंह महेता, आदि भक्तों का जीवन उक्त बात के श्रेष्ठ उदाहरण है।

भक्ति का रहस्य

परपमात्मा को लोग तीन प्रकार की बुद्धि से समझने का प्रयत्न करते हैं । (१) देह बुद्धि (२) जीव बुद्धि (३) आत्म बुद्धि ।

देह बुद्धि में व्यक्ति सदेहभाव से युक्त होता है और ऐसे ही सजीव आदर्श की ओर उन्मुख होता है । जो आदर्श उसको ऊंचा उठाने में सहायक हो। यह आदर्श कोइ संत नेता, महापुरुष या सगुण स्वरूप अर्थात् देवी-देवता हो सकते हैं ।

जीवबुद्धि में मनुष्य स्वयं को देह से भिन्न एक चेतन व्यक्तित्व समझता है और ऐसे आदर्श के प्रति उन्मुख होता है जो चेतनधर्म हो । अर्थात् जिसमें नाम, रुप, गुण की सीमाएँ नहीं होती - जो घट घट वासी है - सर्वनियन्ता और अन्तर्यामी है । जीव उसका ही अंश है जैसे कि

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'- (मानस)

इस प्रकार अंश अंशी की उपासना करता है ।

आत्म बुद्धि में जीव और ईश्वर भिन्न नहीं रहते । जहाँ ध्याता और ध्यान एक होकर महासमाधि लगती हैं । जहाँ आराधक और आराध्य एक है ।[१,२]

वस्तुतः इन तीनों दृष्टियों से देखा जानेवाला ईश्वर एक ही है । व्यक्त-अव्यक्त, घट-घटवासी, निग्रहानुग्रहकर्ता - राम, कृष्ण आदि किसी भी नाम से जानो । जगने पर भी वही है और जीवन-जगत में विहार करनेवाला भी वही है ।

अब रही बात परम अनुराग की - क्योंकि भक्ति की परिभाषा है 'परानुभक्तिः ईश्वरे' इस व्याख्या में दो शब्द हैं, 'परम अनुराग और ईश्वर' तो ईश्वर की बांत तो हो गई ।

---

१. देहबुद्ध्या तु दासोहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमित्ति मे निश्चला मतिः ।। (आध्यात्म रामायण)

अब परम अनुराग को समझें । भौतिकता के प्रति, मान, सम्मान, प्रतिष्ठा धन, स्त्री पुत्रादि के प्रति तो सबका अनुराग जाहिर है । परंतु यहाँ यह लौकिक अनुराग की बात नहीं है । यहाँ ईश्वर के प्रति अनुराग की बात है जब यह अनुराग इस कोटि का हो जाये कि उसके बिना (वस्तु, व्यक्ति, आदर्श) एक क्षण भी चैन न पड़े और चित्त की समस्त वृत्तियाँ पूर्वरूप से उसी अनुराग योग्य पात्र में केन्द्रित हो जाय तब समझिये कि वह अनुराग परम अनुराग की कोटि में पहुँच गया ।

परम अनुरागी का ईश्वर के साथ का संबंध जल-मीन सिद्धांत सा होता है । चंद्र-चकोर सा होता है । दीप-पतंगा सा होता है । स्वाति-चकोर सा होता है ।

''लोचन चातके जिन्ह करि राखे
रहहिं दरश जलधर अभिलाषे'' (मानस. अयो. का.)

सच्चे अनुरागी भक्त पदार्थ के प्रति अनुराग की मूढ़ता को त्यागकर सर्वभावेण प्रभुप्रित्यर्थ जीता है । वह इसमें ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है। और पूर्व शांति एवं आनंद को प्राप्त करता है ।

विषयसुख का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है, और इस प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण जीव प्रमाणित होकर स्वस्वरुप का विस्मरण कर बैठता है । मूल प्रवृत्ति को भूल जाता है जो अनंत आनंद में पहुँचने की है, जो सहज स्वाभाविक है - ''ब्रह्म जीव सन सहज सनेही'' - (मानस) परंतु शब्द स्पर्श रूप रस गंध आदि के आकर्षण में पड़कर जीव सहज प्रवृत्ति को भूल जाता है । ऐसे समय में आवश्यकता है कि देह, बुद्धि, मन इन्द्रियाँ और इन्द्रियों का सुख देनेवाले परमशक्ति माने परमधाम परमात्मा स्मरण हो, उन तक दृष्टि फैलाई जाय और इस प्रकार अनुराग का उदात्तीकरण किया जाय और समझा जाय कि रुप पर रीझना है तो कृष्ण का रूप सर्वश्रेष्ठ है । गुण पर रीझना है तो श्री राम परम गुणमय और गुणवान हैं ।

कुछ लोग जन्म से संस्कारों को लेकर आते हैं, उनका मनोभाव थोडी ही प्रयत्न से ईश्वर में लग जाते हैं । कुछ मध्यम श्रेणी के होते है उन्हें बारबार ईश्वर विषयक चिन्तन और मनन के द्वारा अपने को सजग करना पड़ता है, उनके लिये - सत्संग अति आवश्यक है ।

''बिनुसतसंग विवेक न होई''
राम कृपा बिन सुलभ न सोई'' (मानस बा.का.)

कुछ लोगों के संस्कार इतने डूबे हुए होते हैं कि एसे लोग ईश्वर के विषय को सोचते ही नहीं है । उल्टे ईश्वर से डरते हैं, एसे लोगों का डर का लाभ उठाकर ही हमारे ऋषिमुनियों ने उन्हे भगवान के सन्मुख ले जाने का प्रयत्न किया है । जैसे कि क्रूर काम से प्रभु रूष्ट हो जायेंगे दुःख से बचना है तो उनकी शरण में जाओ, इत्यादि । एसे लोगों को भीतिमार्गी कह सकते हैं ।

गोप्यः कामाद् भयाद्कंसो । द्वेषाद्चेद्यादयोनृपः (श्रीमद् भागवत्-७-१-३०)

श्रीमद् भागवत् में शुकदेवजी ने राजा परिक्षितजी से कहा है कि भगवान कोई एक भाव से ही प्राप्त नहीं होते, वह तो विविध और विचित्र भावों से भी प्रसन्न होकर प्राप्त होते हैं जैसे कि गोपियों ने परम काम या आसक्ति से प्रंभु को प्राप्त किये, कंस जैसे दुराचारी ने भय से प्राप्त किये, शिशुपाल ने द्वेष दृष्टि से वृष्णियों ने प्रभु से संबंध जोड़कर प्राप्त किये, पांडवो ने भी संबंध से प्राप्त किये और हम जैसे ने भक्त से भगवान को प्राप्त किये ।

इस प्रकार संसार में सभी लोग प्रभु के प्रीतिमार्गी नहीं होते हैं । गोस्वामीजीने जीव तीन प्रकार के बताये हैं, विषय, साधक और सिद्ध । भीतिमार्ग विषयी जीवों के लिये है, प्रतीतिमार्ग साधक जीवों के लिये है और प्रीतिमार्ग सिद्ध जीवों के लिये है ।[1]

१. अनुराग में आराध्य और आराधक का द्वैत तो अनिवार्य है, परंतु जब अनुराग पराकोटि में पहुंच जाता है तब आराध्य. आराधक का भावाद्वैत हो उठना भी सहज हो जाता है । वह तो अनिर्वचनीय द्वैताद्वैत-विलक्षण स्थिति रहती है । अतएव उसका वर्णन ही क्या किया जाय? 'कल्याण'-लेख-लेखक-डा. बल्देवप्रसाद मिश्र भक्ति अंङ्क पृ. २८३.

जिन विषयी जीवों में दैवी संपत्ति का भी अंश है उनके लिये प्रपत्ति मार्ग अथवा शरणागति मार्ग उत्तम है । श्रद्धा और विश्वास के साथ आराध्य को प्रीतिकर आचरण करना, निराभिमान होकर उनके आधीन रहता और स्वयं की रक्षा और भार आराध्य के ऊपर छोड देना ही षड्विद्या शरणागति है । ईश्वर से जो सहज ही रागात्मक संबंध स्थापित न हो तो इस प्रकार के अभ्यास से रागात्मकता क्रमशः स्वतः प्रकट हो जाती है । और सब कर्म करता हुआ भी भगवद् कृपा को ही प्रमुख मानकर जीने वाला व्यक्ति खेद हीन और संतुष्ट रह सकता है और यही भक्ति का रहस्य है ।

भक्ति की उत्पत्ति के पक्ष-विपक्ष में विद्वानों के मत ।

भक्तिधारा का मूलस्रोत कहां है ? यह प्रश्न विद्वानों के लिये आज भी विचारणीय रहा है । इस विषय पर पंडितों में कई मतभेद है । 'भक्ति का उद्भव और विकास' - यह विषय अधिकांश चिन्तकों की दृष्टि से विवादास्पद है ।

'भज' धातु से निष्पन्न 'भक्त' या 'भक्ति' शब्द का एक अर्थ उपासना भी होता है, और वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषद काल के बाद उपासना का जो भावार्थ 'भक्ति' निर्धारित किया गया, अतः उसका मूस्रोत वेद है ।

पण्डित श्री देवदत्तजी शास्त्री का मत है कि भक्ति के उद्भव और विकास का इतिहास इतना पुराना है कि आज का इतिहास इसके प्रारम्भ की देहली तक भी नहीं पहुँच पाया है । इसकी असीम व्यापकता को काल की सीमा-अवधि सीमित नहीं कर सकती ।[१]

परंतु उपलब्ध ग्रन्थों और पुरातात्विक सामग्री से यह अनुमान किया जा सकता है कि परमात्मा की दिव्य शक्ति की भक्ति (साकार उपासना) उपनिषद काल से पांच हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी । उस समय में नदियों और वृक्षों की पूजा-भक्ति-दृष्टिगोचर होती है । यजुर्वेद में वृक्षों, नदियों और विभिन्न अनाजोन कर्ता स्तुतियाँ मिलती है । वृक्ष और नदियों की पूजा-स्तुति को कोई अन्धपरम्परा

---

१. भक्तिअंक कल्याण

और अन्धविश्वास समझे तो ये गलत है – इन प्रवृत्तियों में अन्धविश्वास नहीं है परंतु यह उपासना प्रकृतिमूलक है प्रकृति की देन के प्रति धन्यवाद और अहोभाव से स्तुति पूजन किया गया है ।

माना जाता है कि आगे चलकर यह सौंदर्यशक्ति और प्रकृति की उपासना दैवी–शक्ति की उपासना में परिवर्तित हुई ।

पाश्चात्य विद्वान बेवर, कीथ, ग्रियर्सन आदि भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताते हैं । बेवर महोदयने महाभारत में वर्णित 'श्वेतद्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का संबंध ईसाईयत स्थापित करने का प्रयत्न किया है । ग्रियर्सन के मत से ईसाई दूसरी तीसरी सदी में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गए थे, जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ । प्रो. विल्सनने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया । एक अन्य पाश्चात्य विद्वानने कृष्ण को क्राइष्ट का ही रूपान्तर घोषित करते हुए अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया, किन्तु उन्होने यह नहीं बताया कि गोपियाँ किसकी रूपान्तर थी ? हमारे यहाँ अनेक भारतीय विद्वानों श्री बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी, आयंगर, डॉ. एच. राय. चौधरी आदिने उपर्युक्त मतों का खण्डन सुदृढ़ आधारों पर करते हुए भक्ति का मूल उद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों में सिद्ध किया है ।

हिन्दी इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन को मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया बताते हुए लिखा है – ''अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?''[१]

---

१. हिन्दी साहित्य का ईतिहास – पृ. ४३

किन्तु इस प्रश्नार्थ के सामने आचार्य हजारीप्रसादजीने प्रबल तर्क दिया है – ''मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना ही था तो पहले उसे सिंध में फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था। पर हुई वह दक्षिण में'' । इस प्रकार द्विवेदीजी के मत से भक्ति आंदोलन के विकास का श्रेय दक्षिण के अलवार भक्तों को है । परंतु यहां भी प्रश्न उठता है कि अलवारों को किससे प्रेरणा मिली ?[१]

वस्तुतः भक्ति के मूल स्रोत को जानने के लिये और समझने के लिये वेदकाल से लेकर आज तक के समस्त धार्मिक साहित्य पर दृष्टिपात करना होगा ।

आर्यों की प्राचीनतम साधना का परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. मुंशीराम 'सोम' ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं को आधार मानकर भक्ति का उद्‌भव वैदिक साहित्य से ही दिखाने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्होंने जिसे भक्ति कहा है, वह कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र है, भक्ति के दूसरे आवश्यक तत्व-प्रेम – उन्मेष उसमें नहीं मिलता ।[२]

डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त उपनिषदों को भी भक्ति का उद्‌गम स्थान नहीं मानते हुए लिखते हैं कि '..... भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से महाभारत और गीता में प्राप्त होता है ।[3]

---

१. डॉ. गणपति चंद्रगुप्त – निबंध भक्ति उद्‌भव और विकास
साहित्यिक निबंध से – पृ. २१८

२. डॉ. गणपतिचंद्रगुप्त – भक्ति, उद्भव और विकास
साहित्यिक निबंध – पृ. २१९

३. वही – पृ. २२०

श्री कामिल बुल्के के मत से – ''इधर अवतारवाद की भावना फैलती जा रही थी उधर कई सदीयों से राम का आदर्श चरित्र भारतीय जनता के सामने आ रहा था । रामायण की लोकप्रियता के साथ साथ राम का महत्व भी बढ़ रहा था । उनकी वीरता के वर्णन में अलौकिकता की मात्रा बढ़ने लगी । रावण पाप और दुष्टता का प्रतीक बन गया और राम पुण्य और सदाचार के, अतः इस विकास का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कृष्ण की तरह राम भी विष्णु के अवतारों में गीने जाने लगे । राम तथा विष्णु की अभिन्नता की धारणा कब उत्पन्न हुई इसका ठीक समय निर्धारीत करना असंभव है । फिर भी अवतारवाद उत्तरकांड में इतना व्याप्त है कि इसे उत्तरकांड की अधिकांश सामग्री के पूर्व का मानना चाहिए । अतः बहुत संभव है कि पहली सदी ई.स. पूर्व से ही रामावतार की भावना प्रचलित होने लगी थी । रामायण के प्रक्षेपों के अतिरिक्त महाभारत, वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, मत्स्य, हरिवंश आदि प्राचीनतम पुराणों में अवतारों की तालिका में दाशरथी राम का भी नाम आया है ।[१]

परंतु करपात्रीजी के मत से – ''यह कथन नितान्त भ्रम एवं दुरभिसन्धि पूर्ण है । कारण कहा जा चुका है कि वेदों उपनिषदों में अनादिकाल से ही राम के अवतार तथा उनकी उपासना का वर्णन है । जब मन्त्रों, ब्राह्मणों, उपनिषदो तथा ब्रह्मसूत्रो में परमात्मा का सगुण होना वस्तुस्थिति है तब अवतार केवल भावनाओं की वस्तु कैसे कहा जा सकता है ।[२]

---

१. रामकथा – कामिल बुल्के – अनु. १४३

२. रामायण मीमांसा – पृ. २५३

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का भी मत है, कि 'परवर्ती भक्ति पंरम्परा का संबंध वेद से नहीं है, नहीं वैदिक साधना से है ।'

परवर्ती भक्ति का जो स्वरुप और उनका पल्लवन आगमों में ही मिलता है । - संकेत अन्यत्र रुप से भले ही मिलता हो । वैदिक दर्शनों में - न्याय वैशषिक, सांख्य, पातन्जल, पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा - कहीं भी स्वरुपभूता चिन्मयी शक्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । मिलता भी है, तो या तो जड़ रुप में या पुरुषके लिये चितिशक्ति के रुप में - चितिगत शक्ति के रुप में नहीं, संकेत अवश्य मिल जाते हैं । पल्लवन नहीं, पल्लवन तो आगमों में ही मिलता है ।

दूसरी ओर स्वामी करपात्रीजी ने बताया है कि कामेश्वर कामेश्वरी, राधाकृष्ण, सीता-राम के कुलों में 'भक्ति' प्रवाहित होती रहीं । उसका भी उद्‌गम स्थान वैदिक ऋचाओं में - वैदिक - साहित्य में ढूंढ निकाला है । भक्ति रसार्णव में प्रसव-सूक्त तथा दैवी सूक्त के साक्ष्य पर विचार करते हुए निष्कर्ष निकाला है ।

पं. गोपीनाथ कविराज भक्ति को शक्तिका[१] पर्याय मानते हैं इसका उपजीव्य मुख्यतः पाञ्च्यरात्र तथा आगे चलकर भागवत मत से मानते हैं, शांडिल्य और नारद को यह तत्व पाञ्च्यरात्र आगम में जितना उन्मुक्त रुप में मिला उतना वेदों में नहीं । ..... परंतु आद्यशंकराचार्य पाञ्च्य को अवैदिक कहते है परंतु वैष्णव आचार्य उसे संबंध करने का प्रयत्न करते हैं ।[२]

---

१. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी - भागवत दर्पण - पृ. १२०
लेख (वेद और परवर्ती भागवत भक्ति परंपरा)

२. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी - उपरीवत् पृ. १२१

ईसा की चौदहवीं शताब्दी में भारत के श्रेष्ठ ग्रंथ और दर्शन शास्त्र पृष्ठ भूमि में विलियमान से हो गये। यहाँ तक कि पुराण भी लोगों की आवश्यकता पूर्ति न कर सके । ऐसी दशा में भक्ति का प्रभाव पढ़ना स्वाभाविक था । भक्ति – रस के इस प्रवाह से भगवान के प्रति भक्तिभाव विशेष रुप में विकसित होने लगा ।[१]

उपर्युक्त निवेदन से एक ऐसा भाव भी फलित होता है कि भक्ति के बीज तो वेद और वेद और उपनिषद में ही पडे थे परंतु बीच में कुछ एसी परिस्थिति आ गई जो वह बीज ज्यादे अंकुरीत न हो सके परंतु फिर एक ऐसी भक्ति की लहर उठी कि जब यह बीज अंकुरीत भी हो गए, और पल्लवित भी ।

डॉ. संपूर्णानंदजी का मत है कि ''मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने वेद शब्द से उपलक्षित सारे वाङ्मय का अध्ययन किया है । पर यह भी कहना यथार्थ न होगा कि मेरे द्वारा इस अलौकिक साहित्य के पन्ना पर दृष्टिपात नहीं हुआ है । पहेले मंत्रभाग को लीजिये । जहां तक मैं देख पाया हूं किसी भी संहिता की किसी भी प्रसिद्ध शाखा में यह शब्द नहीं मिलता (भक्ति शब्दः)। और यदि कहीं आ भी गया होगा तो उसका व्यवहार असली अर्थ में नहीं होगा जिस अर्थ में हम उसका, आज तक प्रयोग करते हैं, अब 'ब्राह्मण' को लीजिये, उपनिषद भाग को छोड़कर ब्राह्मणों का शेष–अंश तो कर्म–काण्ड परक है । उसमें भक्ति की बात हो नहीं सकती । अब उपनिषद भाग बचा रहता है । इस नाम से सैकड़ों छोटी बड़ी पुस्तकें प्रसिद्ध है । इनमें से कुछ तो निश्चय ही तत्संप्रदाय विशेष की पोषक है। गोपालतापनी नृसिंहतापनी, कालिकोपनिषद, बृहदज्लाबालोपनिषद, जैसे ग्रंथ, इसी कोटि में आते हैं । मैं इस समय इस विषय में कुछ नहीं कहता कि वस्तुतः इस प्रकार की पुस्तकों की प्रामाणिकता कहां तक है, परंतु इस बात से सभी लोग सहमत होंगे कि जिन दस उपनिषदों पर शंकर तथा अन्य आचार्यों ने भाष्य किये हैं, वे निश्चय ही प्रामाणिक रुप से उपनिषद नाम भाक् कृतियाँ है । शंकरने श्वतोश्वतरपर भी भाष्य किया है

---

१. लेख – 'भारत में भक्तिरस का प्रवाह'
लेखक – श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी ।

HANSA MEHTA LIBRARY
M. S. University of Baroda

परंतु उस पुस्तक की गणना 'ईशावास्य' आदि दस उपनिषदों के बराबर नहीं होती । अब यदि इन दस ग्रंथो को देखा जाय तो इनमें भी भक्ति का कहीं पता नहीं चलता ।

मोक्ष के उपाय अभी उपनिषदों में बताये गये हैं परंतु कहीं भी इस प्रसंग में भक्ति की चर्चा नहीं आती ।[१]

अतः हमने देखा कि वेद को भक्ति के उद्‌गम स्थान के रूप में स्वीकार करने पाश्चात्य विद्वान बेवर, कीथ, ग्रियर्सन से लेकर भारतिय विद्वान कामिल बुंल्के, डॉ. संपूर्णानंदजी, डॉ. गणपतिचंद्रगुप्त, पं. गोपीनाथ कविराज श्री कन्हैलाल मुन्शी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि सहमत नहीं है - तो भी करपात्रीजी डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. हरिप्रसाद द्विवेदी जी, स्वामी श्री महेश्वरानंदजी, पं. वेणीरामजी शर्मा, श्री दीनानाथजी सिद्धान्तालंङ्कार, श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह, डॉ. श्री उमेशजी मिश्र, श्री वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, श्री रामकिशोरी देवी आदि विद्वज्जन वेद को भक्ति के उद्‌गम स्थान के रूप में स्वीकार करने के साथ सहमत है।

डॉ. मुंशीराम शर्मा, पं. बलदेव उपाध्याय आदि ने भी वैदिक स्तवनात्मक मंत्रो में भक्ति के मूलरूप 'राग' का अस्तित्व बताकर वहीं से दूसरी धारा का निरूपण करते हैं ।[१]

उपर्युक्त सभी मतमतांतरोपर विचार करते हुए हम संक्षेप में इतना कह सकते हैं कि दोनों मत के विद्वानों ने ''भक्ति के 'संकेत' वेद में ही मिलते है'' - इस बात को स्वीकार किया है - अर्थात्, हम निःशंक रूप से कह सकते हैं कि भक्ति के बीज-वेद में है और वह पांचरात्र, महाभारत, भागवत-अन्यपुराणों, गीता और नाट्य एवं 'शांडिल्य-भक्ति सूत्रों में पल्लवित हुई ।'

---

१. लेख - 'भक्ति, कल्याण भक्ति अङ्क
लेखक - डॉ. श्री सम्पूर्णानंदजी पृ. १०९

२. 'भागवत दर्पण' - पृ. १२२

वेदो में भक्ति ।

हमने आगे देख लिया कि भक्ति के बीज वेद में ही पड़े है, फिर भी वेदों के सम्बन्ध में कई प्रकार की मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई है। इनमे एक धारणा यह भी है कि वेदों में भक्ति प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं है, जितनी अन्य ग्रंथों में, विशेषतः मध्यकालीन साहित्य में है । एक धारणा यह भी है कि वेदमंत्रज्ञ क्लिष्ट है । परंतु जिन्हे संस्कृत का अथवा वैदिक संस्कृत का थोड़ा सा अभ्यास होता है यह मंत्र समझने में ज़्यादा कठिनाई नहीं है। भारत में धर्म के विषय में कईं बाते एसी घटी है जो सरल बात को कभी आचार्योंने, कभी भाष्यकारोंने तो कभी उपदेशकों ने कठीन बना दी है ।

श्री दीनानाथजी सिद्धान्तालंकारने एक उदाहरण देकर पौराणिक और वैदिक संस्कृत के बीच का जो सूक्ष्म भेद है, उसे समझाने का प्रयत्न किया है – 'देव' शब्द का तृतिया विभक्ति का बहुवचन प्रचलित संस्कृत में 'देवै' होता है, पर वेद में प्रायः 'देवेभिः' का प्रयोग आता है । वेद को वेद से समझने का और पूर्ण श्रद्धा से साथ उसका अध्ययन करने का यदि प्रयत्न किया जाय तो निज अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि सारी दिक्कतें दूर हो जाती है । गुरुजनों और विद्वत्पुरुषों से नम्रतापूर्वक शंङ्का निवारण तो करते हैं, रहना चाहिए ![१]

वेद वस्तुतः भक्ति के आदि स्रोत है । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' – अर्थात् परमेश्वर में अविचल और एकान्तिक भावना एवं समर्पण की उत्कट आकांक्षा को भक्ति कहा गया है ।

'भक्ति' शब्द 'भज्-सेवायाम' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगने पर बनता है – जो हम आगे देख गये । अर्थात् भक्ति हृदय की उस भावना का नाम है जिसमें साधक जहाँ एक और पूर्व भाव से ब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्म द्वारा रचित इस सारी सृष्टि के प्रति सेवा की भावना रखनेवाला भी हो –

---

१. भक्ति अङ्क (कल्याण) पृ. ८८

ऋग्वेद के शब्दो में ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ॥

वेद का भक्त कहता है – ''मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखनेवाले हों ।

उक्त बात श्रीमद् भागवत गीता में श्री कृष्ण ने भी बतायी है ।[१]

वेद का भक्त प्रभुप्रित्यर्य श्रध्धावान के साथसाथ कर्मठ, सशक्त और आत्मविश्वासी भी है । वह कहता है कि ''मेरे दायें हाथ में कार्यशक्ति है और बायें हाथ में विजय है ।[२]

विनम्रभाव :– प्रभु के प्रणयन ।

वेद का भक्त – साधक प्रभु को बड़े आदर के साथ, विनम्रता के साथ और भावना के साथ नतमस्तक उपस्थित हो जाता है । और अपने प्रमाण को स्वीकार करने की प्रार्थना करता है कि जो भूत–भविष्य और वर्तमान के अधिपति[३] है, जो अन्तर्यामी है, जो व्योम विश्व में व्याप्त है, त्रिकाल का स्वामी है, निर्विकार आनंदकंद है, कैवल्यरूप सुखधाम है – उस महान जगदीश्वर को मेरा प्रणाम हो ।

सत्यज्ञान की परिस्वायक यह पृथ्वी जिसके चरण है और यह विस्तृत अंतरिक्ष जिनका मस्तक है – उस प्रभु को मेरा प्रणाम हो ।[४]

---

१. गीता अध्याय १२ 'भक्तियोग'

२. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः । (अथर्व – ७/४०/८)

३. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाद्दितिष्ठति ।
सर्वस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रङ्गणे नमः । (अथर्व १०/८/१)

४. यत्य भूमिः प्रभा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व १०/७/३२)

भक्त की तम से मुक्त होने की ईच्छा :-

हे प्रियतम ! हृदय गुहा के अन्धकार को विलीन कर दो, नाशक पापों को भगा दो और हे ज्योतिर्मय ! हम जिस ज्योति को चाहतें हैं वह हमें दो।[1]

इस प्रकार वेद का भक्त पहले प्रभु को प्रणाम करता है, फिर वह परमशक्तिमान परमात्मा से अभिभूत होकर उसे परम ज्योतिर्मय बनाने के लिये प्रार्थना करता है । हृदयांधकार से अर्थात् दुर्गुण से मुक्त होने की कामना करता है और प्रभु कृपा की याचना भी करता है और शरण में जाता है ।

शरणागति की भावना ।

भगवान् ! आप आशरणों की शरण है, आपकी कृपा से ही मेरा उध्धार हो सकता है । हे प्रभु ! आप चतुर्दिक में छाये हुए हो । आप मधुरमूर्ति सर्व जगत के नियन्ता हो, आपकी शक्तियां दिव्य और अनुपम है, दूर ही आप है और पास भी आप है अर्थात् दृश्य - अदृश्य दोनों आपके ही स्वरुप है - (सगुण-निर्गुण) । हम जितने सत्कर्म करते हैं उतने आपके निकट आ सकते हैं । इस हृदय में आप ही बैठे है । एसे परम देव ! हम आपकी दिन-रात वंदना करते हैं ।[२]

करूणा सागर प्रभु ।

संसार की वीड़म्बाओं में जब-मानव की जीवन-नैया डाँवाडोल होती है और वह जब निराश हो जाता है उस समय भगवान करूणा से भक्त को निराश न होने का संदेश देते हैं ।

'हे मानव निराश किस लिये होता है ? तुम्हारा फूल सा चेहरा क्यों कुम्हला रहा है ? तुम स्वयं आदित्य हो, यह रोना बंध करो, हे दिव्य महारथी ! एक संकल्प होकर आगे बढ़ो, चिरकाल तक बढ़तो रहो, अहं को छोड़कर (कर्ताभाव को छोडकर) जो तुम हारेगा तो तेरी हार भी जीत बनकर विख्यात होगी । तेरी मृत्यु भी अमर संगीत होकर गुंज उठेगी !

---

१ गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्यमत्रिणम् । ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ (ऋग्. १/८६/१०)

२. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेषु ईड्यः ।
(ऋग्. ८/११/१०, यजु. ४/१६, अथर्व. १९/५९/१)

यह समय का संदेश है, तूं निराश मत हो ।[1]

प्रभु को प्रार्थना / रमणीय विश्व – रमणीय मन

वेद का भक्त इस विश्व को दुःखदायक और भ्रमपूर्ण नहीं समझता । वह इसे 'रमणीय' समझता है और वास्तविक भी ।

वह कहता है कि ग्रीष्म, वर्षा शरद हेमन्त, शिशिर और बसन्त आदि ऋतुएँ रमणीय है – तेरा बनाया हुआ पूरा विश्व रमणीय है तो मन स्वयं भी भक्त बनकर रमणीय हो जाय ![2]

प्रभु का महिमागान और नमस्कार :-

जिसकी महिमा का गान हिम से ढके हुए पहाड़ कर रहे है, जिसकी भक्ति का राग समुद्र अपनी सहायक नदियों के साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसके बाहुओं के संदेश हैं, उस आनंदस्वरुप प्रभु को मेरा नमस्कार हो ।[3]

---

१. उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं
ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथम् ।
अथ जिर्विर्विदथ मा वदासि ॥ (अथर्व ८/१/६)

२. वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु सन्त्यः ।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥ (साय ६/३/१३/२)

३. यस्येमे हिमवन्तो महित्वायस्य समुद्रंरसया सहाहुः
यस्येमा दिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु. २५/१२)

वेदों में नवधा भक्ति का निरुपण :-

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि नवधा भक्ति श्रीमद्भागवत में निरुपित है और अन्यपुराण तथा मानस में यह विविध रूप में पाई जाती है परंतु मूलतः वेदों में भी अनेक स्थानों पर नवधा भक्ति का निरुपण किया गया है ।

१. श्रवण :

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः[१]

यह मंत्र वेदत्रयी में मिलता है । इसमें देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि 'हम भद्रपदवाच्य परमेश्वर के नाम, गुण, चरित्रों का श्रवण करें । 'भद्र' शब्द का अर्थ कल्याण, मंगल आदि है । 'कल्याणाम् निधानम्', मंगलानां च मंगल' आदि वचनों से परमेश्वर ही परम मंगलस्वरुप है । भक्त उन्हीं मंगलमय परमेश्वर के (नाम-गुण-कथा) आदि श्रवण की प्रार्थना करके अपनी 'श्रवण-भक्ति' व्यक्त करता है । उपर्युक्त 'भद्रं कर्णेभिः' इस मंत्र के अंत में भक्त यहां तंक प्रार्थना करता है कि ''मैं दृढ़ अवयव युक्त शरीर से उसी प्रभु का श्रवण करता हुआ उस देव (परमेश्वर) के हितार्थ - प्रसन्नतार्थ अपनी समस्त आयु व्यतीत करुँ ।[२]

---

१. शु. यजुर्वेद - २५/२१

२. स्थिरैरङ्गैः स्तुष्टुवाँ सस्तनूभिव्यशेमहि
देवहितं यदायुः । (शु.यजु. २५/२१)

श्रवण भक्ति और भक्त का प्रभु के प्रति समर्पण का ओर अच्छा उदाहरण क्या हो सकता ?

उपरांत कीर्तन[१], स्मरण[२], पादसेवन[३], अर्चन[४], वंदन[५], दास्य[६], सख्य[७] और आत्मनिवेदन[८] आदि भक्ति का निरुपण वेद में मिलता है ।

---

१. 'सुष्टुतिमीरयामि' । (ऋग्वेद २/३३/८)
'प्र सम्राजम्' । (ऋग्वेद ८/१६/१)
'इमा उ त्वा' (सामवेद पूर्वाचिक २/२/१/२)

२. 'स्तवाम त्वा स्वाध्यः' (ऋग्वेद १/१६/१)
'भर्गोदेवस्य धीमहि' । (ऋग्वेद ३/६२/१०)
'एत्पुण्डरीकमध्ये तु' । (सामवेदीय मैत्रेप्युनिषद् १/४/८)

३. 'पदं देवस्य' । (ऋग्वेद ८/१०२/१५)
'इदं विष्णु' । (ऋग्वेद १/२२/१७)

४. 'इन्द्राय मद्वने' (ऋग्वेद ८/१२/१९)
'अर्चन प्रार्चत' (सामवेद पूर्वा ४/२/३/३)
इन मंत्रों में अर्चन भक्ति का उल्लेख मिलता है ।

५. 'अभित्वा शूर नोनुमः' (ऋग्वेद ७/३२/२२)
'समस्य मन्यवे' (सामवेद पूर्वा २/१/५/३)

६. 'यदद्य कच्च' । (ऋग्वेद ८/१३/४)
'आ धा ये' । (शुक्लयजुर्वेद ७/३२)

७. 'स नः पितव सूनवे' । (ऋग्वेद १/१/९)
'अस्य प्रियासः सख्ये स्याम' (ऋग्वेद ४/१७/९)
'देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्' (ऋग्वेद १/८९/२)
'यआन यत् परावतः' (साम पूर्वा २/१/४/३)

८. 'उत वात पितासि नः' । (ऋग्वेद १०/१८६/२)
'यं रक्षन्ति' । (सामवेद पूर्वा २/२/१०/१)
'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' । (श्वेता - ३-६-१८)

नवधा भक्ति के उपरांत भक्ति का फल भी स्पष्ट बताया है[1] –

अर्थात् जो प्रभु को जान लेते है वह मोक्षपद को प्राप्त करता है ।

भक्त की अभिलाषा

प्रभुदर्शन ही भक्त ही परम जिज्ञासा होती है । वेद का भावुक भक्त प्रभु को प्रार्थना करता है कि हे विभो! कब मैं पवित्र और एकाग्र मानवाला होकर सत्य, आनंदमय, आपका साक्षात् दर्शन करूँगा ? और कब मैं सर्वजन वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आपमें अन्तर्भूत – तदात्मभूत हो जाऊँगा ! हे भगवान् ! तेरे पावन अनुग्रह से ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ ।[2]

एकात्मभाव

वह परमेश्वर स्वर्ग पृथिवी एवं अन्तरिक्ष रुप निखिल विश्व में पूर्णरुप से व्याप्त हैं, वह संपूर्ण जगत का सूर्य यानी प्रकाशक है, तथा वह स्थावर-जंङ्गम आत्मा है ।[3]

यही बातें मानस के अरण्यकांड में श्रीरामजी भक्त शबरी से कहते हैं[4]।

---

१. 'य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्व मानशुः' (ऋग्वेद १/१६४/२३)

२. कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि...
कदा मृब्लीकं सुमना अभिख्यम् ॥ (ऋ. ७/८६/२)

३. आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । (ऋ. १/११५/१)

४. सातवँ सम मोहिमय जग देखा ।
भाते संत अधिक करी लेखा । (मानस अरण्यकांड, राम-शबरी संवाद)

परमानंद निधि भगवान् ।
प्रियाणां त्वां प्रियपतिं हवामहे ।[1]

अर्थात् अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थों के मध्य मे एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव हैं, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तेरी ही चाहना करते हुए आराधना करते रहते हैं ।

'हे प्रभो । एकमात्र तू ही निरतिशय अखण्ड - आनन्दनिधि है । यह मैं जानता हूं, इसलिये मेरी ये सभी बुद्धिवृत्तियाँ तुझ आनंदनिधि स्वात्मभूत भगवान् से संबद्ध हुई तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई - जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुंदर पतिदेव का समालिङ्गन करती हुई आनंदमग्न हो जाती है या जैसे स्वरक्षण के लिये दरिद्रजन दयाल धनवान का आलम्बन करते है वैसे ही मेरी बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-युद्ध-शुद्ध-मुक्त स्वभाव अनन्त सुखनिधि सर्वात्मा भगवान का ध्यान करती हुई समस्त दुःखों से विमुक्त हो जाती है।[2]

इसलिये हे भगवन् । तू हमें अनन्त अखण्डकार संपूर्ण सुख का प्रदान कर । हे परमात्मन् हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो ![३-४]

---

१. शु.य. २३/१९

२. अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं ।
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ (ऋ. १०/४३/१)

३-४. यच्छा न शर्मः सप्रथः (ऋ. १/२२/१५)
सुम्नमस्मे ते अस्तु । (ऋ. १/११४/१०)
(यहां 'शर्म' एवं 'सुम्न' सुख के पर्याय है ।)

नामभक्ति और रुपभक्ति

जीव अनादिकाल से संसार को कल्पित नाम और रुपों में आसक्त होकर दुःखी हो रहा है – इस आसक्ति से छूटने के लिये हमारे वेदोंने ''विषस्यौषिधविषम्', 'कण्टकस्य निवृतिः कष्टकन' की भांति श्री भगवान के पावन नामों की एवं दिव्यतम साकार रूपों की भक्ति का उपदेश दिया ।

जैसे – 'हे अनन्तनिधि – भगवन् ! आपके पावन नामों का वैखरी आदि चार वाणियों के द्वारा भक्ति के साथ हम उच्चारण करते रहते हैं'[१]

'अमर्त्य अविनाशी आप भगवान के महिमाशाली नाम का हम श्रद्धा के साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं'।

इसी प्रकार उपासना के लिये ईश्वर के स्वरुप का भी वर्णन किया गया है ।

'हिरण्य यानी सुवर्ण जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी दिव्य है, वर्ण भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौंदर्यसार सर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि – जलशायी भगवान नारायण अतिशय भक्ति द्वारा प्रणाम करने योग्य है ।[३]

---

१. नमामि ते शतक्रतो । विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे । (ऋ. ३/३७/३)

२. मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरी नाम मनामहे । (ऋ. ८/११/५)

३. हिरण्यरुपः स हिरण्यसंदृक्अपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।(ऋ. २/३५/१०)

वेद में यही भी कहा है कि 'वह प्रभु निराकार रूप से वस्तुतः अजायमान है, और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्ति द्वार भक्तों की भावना के अनुसार उपासना की सिद्धि के लिये दिव्य साकार, विग्रहों से बहुधा जायमान होता है'[1]

भक्ति के साधन

शास्त्रों, पुराणों और मानस में जो भक्ति के साधन बनायें गये हैं, बहुधा एंसे ही साधन वेद में भी घोषित है ।

वेदों की संहिताओं में सत्संग श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि दोष निवारण आदि अनेक भक्ति के साधनों का वर्णन मिलता है ।

१. सत्संग :-

'दानशील - उदार स्वभाववाले, विश्वास घातादि दोष रहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी-भक्त की हम बार बार संगति करते रहें' - इस मंत्र में भक्ति के हेतुभूत[2] सत्संग का स्पष्ट वर्णन है ।

---

१. अजायमानो बहुधा विजायते । (शु.यजु. ३१/१८)

२. पुनर्ददताध्नता जानता संगमेमहि । (ऋ. ५/५१/३५)

२. अद्रोह :-

. 'मित्रभाव की दृष्टि से मैं समस्त प्राणियों को देखता रहूं, अर्थात् मैं किसी से कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूंगा' । किन्तु शक्ति के अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा । भला चाहूँगा, भला कहूँगा एवं भला ही करूंगा।'[१] इस मंत्र में सर्वभूतहितरतत्व का स्पष्ट उपदेश दिया गया है और यह स्थिति अद्रोह में ही घटित हो सकती है।

३. श्रद्धा :-

श्रद्धा विश्वास द्वारा सत्य-परमात्मा की प्राप्ति होती है ।[२] 'हे श्रद्धादेवी । हमारे हृदय में रहकर तू हमे श्रद्धालु आस्तिक बना ।[३]

४. दान - उदारता :-

'सौ हाथ के उत्साह एवं प्रयत्न द्वारा तू हे मानव ! धन-धान्यादि संपादन कर और हजार हाथ की उदारता द्वारा तू उसका दान कर उसे योग्य अधिकारियों में वितरण कर ।[४]

''धनवान सत्कार्य के लिये याचना करनेवाले सत्पात्र को धनादिका अवश्य दान करे ।'' [५]

---

१. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वथणि भूतानि समीक्षे । (शु.यजु. ३६/१८)

२. श्रद्धया सत्यमाप्यते । (शु.यजु. १९/३०)

३. श्रद्धे श्रद्धापयेह नः । (ऋ. १०/३५१/५)

४. शतहस्त समाहर, सहस्त्रहस्त संकिर ।

५. प्रणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् । (ऋ. १०/११७/५)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदि को न देकर केवल आप अकेला ही जो अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं, किंतु पाप ही खाता है ।[1]

५. ब्रह्मचर्य – संयम :-

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके लाभ द्वारा ही मानव दैवी सम्पत्ति सम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्ति का संपादन करके अविद्यारुप मृत्यु का विध्वंस कर देता है ।[2]

हे प्रभो ! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम सदाचार द्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहें – इनमें अयंयम रुपी कटुता विक्षेप न रहें, ऐसी कृपा करें ।[3]

६. मोहादि षड्दोषनिवारण का उपदेश :-

'हे इन्द्रस्वरुप जीवात्मन्। दिवान्धउलूक के समान आचरण करनेवाले मोहरुपी राक्षस का, शुशुलूक के समान आचरण करनेवाले क्रोधरुपी राक्षक का श्वान के समान आचरण करनेवाले मत्सररुपी राक्षस का श्वान के समान आचरण करनेवाला मत्सररुपी राक्षस का तथा कोल पक्षी के समान आचरण करनेवाले कामरुपी राक्षस का, सुपर्ण के समान आचरण करनेवाले – भदरुपी राक्षस का तथा गीध के समान आचरण करनेवाले लोभरुपी राक्षस का सदुपायों के द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थर से मिट्टि के ढेले को पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोषरुपी राक्षस शत्रुओं को पीस डाल ।[4]

---

१. केवलाधो भवति केवलादी । (ऋ. १०/११७/६)

२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत । (अथर्व ११/७/१९)

३. माध्वी गाणो भवन्तु नः । (ऋ. १/१०/६)

४. उलूक्यातुं शुशुलक्यातुं जहि श्चायातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं द्दषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋ. ९/७/६)

इस प्रकार वेदों की परम प्रामाणिक संहिताओं में भगवद्भक्ति, उनके साधन, ईश्वर का स्वरुप, भक्ति के प्रकार आदि का सूक्ष्म वर्णन है –

जब साधक इस दिव्य नंदनवन के कल्पवृक्ष की शीतल मधुमयी छाया में बैठकर भक्ति – कामधेनु का अनुग्रह पाता है तब उसी समय आनंदमय और अमृतमयहो जाता है और साधक धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है । शुकदेव जैसे परमभक्तोंने इसी भक्तिभागीरथी में अवगाहन करके मुक्तजीवन पाया था और परीक्षित जैसे जीवों को मुक्ति का साक्षात्कार भक्ति के द्वारा कराया था ।

इस प्रकार भक्ति की भाव भागीरथी वेद की नखमणि से ही प्रवाहित हुई और आगे चलकर सप्तस्रोत की भांति पुराणो में वर्णित हुई ।

उपनिषद में भक्ति

बहुतों की यह धारणा है कि उपनिषद् में केवल ज्ञान की ही चर्चा है, परंतु वस्तुतः उपनिषद में ज्ञान, कर्म और भक्ति सबकी चर्चा है । गीता का उपदेश भी यही है, और सब विद्वज्जन ये भी जानते ही हैं कि गीता उपनिषद् का सार है ।

हम यहां देखेंगे कि उपनिषद में भक्ति की चर्चा किस रुप में है ?

उपनिषद में कहा गया है कि ब्रह्ममयी उपासना करना उचित है तथा ब्रह्म की कृपा होने पर उसको प्राप्त कर सकते है ।[1]

कठोपनिषद में कहा गया है कि – 'ब्रह्म प्राणवायु को उर्ध्व दिशा में प्रेरित करता है, अपान को निम्न दिशा में – वह स्वयं भजनीय रुप में ह्रदय के भीतर अवस्थान करता है, उसकी सारे देवता उपासना करते है।[2]

मंडुकउपनिषद में कहा है कि – 'प्रणव (ॐ कार) धनुष्य है, आत्मा शर है – और ब्रह्म उसका लक्ष्य है । प्रयत्नपूर्वक तन्मय हो जाये ।

---

१. तद्वनमित्युपासितव्यम् ।
तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इति उपासितव्यम् । (केनोपनिषद् ४/६)

२. ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये धामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।। (कठोपनिषद – २/२/३)

यहां ॐ कार रुपी मंत्र - साधन से ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की बात कही गई है अर्थात् इस बात में विश्वास एकाग्रता और मंत्र तीनों की बांत बताई गई है ।

कठोपनिषद के एक श्लोक में साधक और भक्ति की चर्चा की गई है । साथ साथ आत्मा के स्वरुप का भी वर्णन है और भक्ति के द्वारा प्रभुदर्शन बाद का परिणाम क्या है ? ये सारी बाते सिर्फ एक ही श्लोक में स्पष्ट हो जाती हैं ।

'आत्मा अणु से भी अणु है, महान् से भी महान है । यह प्राणी की हृदय गुहा में अवस्थान करता है । निष्काम साधक ईश्वर की कृपा से उसका दर्शन करता है । उसका दर्शन करने पर साधक में सर्वज्ञता आदि महिमा का आविर्भाव होता है तथा वह शोक से उत्तीर्ण हो जाता है ।[२]

यहां एक शब्द महत्व पूर्ण है - 'निष्काम साधक' - अर्थात निष्काम भक्ति ही सच्ची भक्ति है और निष्काम भक्त ही श्रेष्ठ भक्त है ।

---

१. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मण्डुक. २/२/४)

२. अणोरणीयान् महतो महीया
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तभक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ (कठोपनिषद् - १/२/२०)

तैत्तरीय – उपनिषद, ब्रह्मानंदवल्ली के दूसरे, तीसरे और चौथे अनुवाहकों में अन्न, प्राण, मन और विज्ञान की ब्रह्मरुप में उपासना करने की बात आती है ।

छांदोग्य उपनिषद में भी ब्रह्मोपासना की चर्चा की है ।[१] जगत की सभी वस्तुएँ ब्रह्म से ही उत्पन्न है, ब्रह्म मे ही अवस्थान करती है तथा ब्रह्म में विलीन हो जाती है । इस प्रकार चिन्तन करते हुए मन को शान्त रखकर उपासना करनी चाहिए ।'

'मानस' में भी कहा है कि –

''सब मम प्रिय सब मन उपजाये''– मुझे सभी लोग प्रिय है और मैने ही सभी को उत्पन्न किये हैं ।

छांदोग्य उपनिषद में प्रतीक उपासना का भी उल्लेख मिलता है ।[२] मन की ब्रह्म के रुप में उपासना करो' इतना ही नहीं परंतु निम्नलिखित वस्तुओं की ब्रह्मरुप में उपासना करने की बात आयी है । १) पूर्व पश्चिम आदि चारों दिशाएँ २) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युति के लोक तथा समुद्र ३) अग्नि, सूर्य, चंद्र और विद्युत ४) प्राण, चक्षु और क्षोत्र और मन ।[३]

मानस में अयोध्याकांड के राम–वाल्मीकि संवाद में तुलसी ने उपरोक्त बात को ही भक्तिभाव पूर्ण शब्दों में सरल रुप से स्पष्ट करने का यत्न किया है और इसके द्वारा बताया है कि परमात्मा जीव प्राणीमात्र और विश्व के प्रत्येक स्थानो में है ।

स्वर्ग नर्क अपबर्ग समाना ।
जहँ तहँ देख धरेउ धनु बाना ।

---

१. सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिसि शान्त उपासीत । (छांदोग्य ३/१४/१)

२. मनोब्रह्मत्युपासीत । (छांदोग्य ३/१८/१)

३. छा. ४/५/८

कठोपनिषद में मानस में जो मंत्रजाप को पंचम भक्ति बताई है वही बात प्रकट होती है । यह प्रणव (ॐ कार) ही अक्षर ब्रह्म है । यही परम अक्षर है, उसकी उपासना करने पर जो जिस वस्तु की इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त होती है ।[१]

शंकर और रामानुज दोनों के ही ''मत से एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा'' – इसका अर्थ प्रणव की ब्रह्मरुप में उपासना करना है ।

श्वेताश्वर – उपनिषद् में ब्रह्म के प्रति संपूर्ण भाव से समर्पण करने की बात भी मिलती है – 'हे भगवान् मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए आपकी शरण लेता हूँ ।'[२]

भक्तिमार्ग की साधना में गुरुभक्ति की जो उच्च प्रशंसा है, उसका भी मूल उपनिषद् में मिलता है । –

जिसकी ईश्वर में पराभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है, उसके सामने ये बात कहने पर वह कुछ उपलब्ध कर सकता है ।[३]

इस प्रकार हमने देखा कि उपनिषद्रुपी मानसरोवर में भक्तिरुपी कमल चारों ओर खिले पड़े हैं ।

---

१. एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् ।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदच्छति तस्म तत् । (कठ. ३/२/१६)

२. मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । (श्वेता ६/१८)

३. यस्य देवे परा भक्तिर्पथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ (श्वेता – ६/२३)

पुराणों में भक्ति

. वैदिक साहित्य चार भागों में विभक्त है । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में कर्ममार्ग तथा उपनिषद् में ज्ञानमार्ग की विवेचना है ।

वेदों के संहिता भाग में मन्त्रसमूह, इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, रूद्र आदि देवताओं के स्तोत्र–स्तुति से पूर्ण है, और इन सब मन्त्रों के द्वारा प्राचीन आर्यलोग देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से याग–यज्ञ करके अभीष्ट प्रार्थना करते थे । मूलतः एक ही परमशक्ति विभिन्न देवताओं के नाम से अभिव्यक्त है । परमेश्वर एक और अद्वितीय है । यह रहस्य आर्यों को ज्ञान था – यह बात ऋग्वेद के मंत्रो से प्रकट होती है ।[१]

'तत्वदर्शीलोग एक ही सद् वस्तु का विभिन्न नामों से निर्देश करते हैं, वे उस ही सत्ता को अग्नि, यम और मातरिश्वा के नाम से पुकारते हैं ।'

वेदों के संहिता भाग में 'भक्ति' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं परंतु प्रार्थना, उपासना श्रद्धा – आदि भक्ति के विविध नाम और आधारों का उल्लेख मिलता है जो हम आगे देख गये और इस प्रकार वेदों के संहिता युग में देव विषयक भक्तिमूलक सहज सरल धर्म देखने में आता है ।

अब बात करे उपनिषद की । उपनिषद वैसे तो पूरा ज्ञान मार्ग है, और सगुण ब्रह्म के बीना भक्तिमूलक उपासना सम्भव नहीं । उपनिषदों में ब्रह्म सगुण–निर्गुण, सविशेष, निर्विशेष दोनों प्रकार के विभावों का विवरण दृष्टिगोच होता है । सगुण सविशेष विभागव के वर्ण' के प्रसङ्गमें उपनिषद में अनेक स्थल पर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं तथा 'भक्ति' शब्द का उल्लेख भी खिलता है, जिसे हमने आगे देख लिया ।'[२]

---

१. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।
अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋग्वेद – १/१६४/४६)

२. यस्य देवे पराभक्तिः । (श्वेताश्वर – ६/२३)

बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा कि भक्ति साधना के आश्रय है प्रेमस्वरुप, करुणामय भगवान् ।[1]

'ये ही परम गति, येही परम सम्पद् ये ही परम धामा तथा ये ही परम आनंद है ।

तैत्तरेय उपनिषद में भी घोषित हुआ कि - 'वही रस (प्रेम) स्वरुप है।[2]

अतएव देखा जाता है कि भक्ति साधना का जो बीज वेदों के संहिता भाग में ही निहित है, वही क्रमिकविकास से उपनिषद् में अंकुरीत हुए और पुराणों में तो शाखा - प्रशाखायुक्त होकर पल्लवित और फूल फलयुक्त होकर महावृक्ष बन गया ।

हिन्दू धर्म के क्रम विकास का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है । १) कर्मकांड प्रधान वैदिक युग २) ब्रह्मज्ञान प्रधान उपनिषद्युग तथा ३) भक्ति साधना प्रधान पौराणिक युग ।

हमारे शास्त्रों में पुराण को पंचम वेद के नाम से अनुभूषित किये गये हैं । वेद के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिये पुराण आधारशिला समान है। और इसीलिये पुराणों के अध्ययन पर हमारे शास्त्रकारों ने ज्यादा जोर दिया है ।

दुर्गम वेदमार्ग और वेदशास्त्र के रहस्यों को ग्रहण करके उसी आदर्श पर चलने का जन साधारण के लिये संभव नहीं है - यह समझकर ही महर्षि कृष्णद्वैपायन ने (वेदव्यासने) आमलोगों का कल्याण साधने के लिये वेद के गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य को पुराणों में सरल बनाकर और विस्तार से आख्यानादिका आधार लेकर प्रकाशित किया । पद्मपुराण में यही बात कही है ।

---

१. एवास्य परमागतिरेषास्य परमा सम्पद
एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः । (बृहद् - ४/९/३२)

२. रसो वै सः । (तैत. २/७/१)

जिन्होंने व्यासरुप में वेदों से समस्त धर्मों को उद्धृत करके जगत् के कल्याण के निमित्त निखिल पुराणों में परिव्यक्त किया है, कमला सहित उस नारायण की हम वंदना करते हैं ।[1]

पुराण में भक्ति की महिमा :-

[2]देवी भागवत में देवी भगवती कहती है कि 'हे नगेन्द्र ! मोक्षप्राप्ति के लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग - ये तीनो ही मार्ग विख्यात हैं । इन तीनों प्रकार के योगों में भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होनेवाला है । क्योंकि यह योग काय-चित्त आदि को पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्ति के द्वारा संपादित हो सकता है । अतः इस योग को सुलभ जानना चाहिये ।'[2]

पुराणों में बारबार घोषित किया गया है कि - ईश्वर के प्रति एकान्तिक भक्ति के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर हो जाता है और ईश्वरभक्ति विहीन होने पर ब्राह्मण भी चाण्डाल सा अधर्मी हो सकता है ।[3]

वेद का निर्गुण ब्रह्म पुराण के भगवान्

पुराणशास्त्र का प्रधान गौरव यही है कि वेद ने जिस परम तत्व परमात्मा को इन्द्रिय मन और बुद्धि से पर बनाया और 'नेतिनेति' कहकर सामान्य जन के लिये अप्राप्य बना दिया तथा केवल ज्ञानी साधक के लिये ध्यानगम्य बताया गया उसी चरम और परम तत्व को पुराण ने भक्तिमार्ग के राज मार्ग को विशेषरुप से खेलकर भक्त के सामने भगवान के मनोरम और मनोहर रुप में चित्रित करके सारी इन्द्रियों को गोचरीभूत कर दिये ।

---

१. वेदेभ्य उद्धृत्य समस्तधर्मान्, योऽयं पुराणेषु जगाद देवः ।
व्यास स्वरुपेण जगद्धिताय, वन्दे तमेनं कमलासमेत् । (पद्मपुराण, क्रियायोगसार १/३)

२. मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप ।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम ॥
त्रयाणामप्यथं योग्यः कर्त्तु शक्योऽस्ति सर्वथा ।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीऽनात् । (देवी.भाग. ७/३७/२-३)

३. चाण्डालोपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ।
विष्णुभक्ति विहिनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः ॥ (वृहन्नारदीयपुराण ३२/३९)

सगुण रूप की उपासना

भक्ति योग में सगुण ईश्वर की उपासना साधारण जीव के लिये सहजसाध्य है । इसी कारण पुराण इस प्रकार की उपासना पर ज़ोर देते हैं । पद्मपुराण में इसी विषय में श्रीराम और शिव का एक सुंदर संवाद है ।

'भगवान् शंकर ! आप यदि सच्चिदानंद स्वरूप है, अवयवरहित हैं, निष्क्रिय है, निस्तरङ्; समुद्र के समान प्रशांत है, निर्दोष, निःशङ्क, सर्वधर्मविहिन, मन-वाणी से अगोचर, सर्वत्र अनुस्यूत होकर प्रकाशमानरूप में अवस्थित आत्मविक्ष और तपस्या के द्वारा गम्य, उपनिषद् वाक्यों के तात्पर्य विषयीभूत, अपरिच्छिन्न, सर्वभूतात्मस्वरूप, अदृश्य तथा दुर्विज्ञेय स्वरूप है तो आप किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं ? - तब भगवान् शंकर ने उत्तर दिया-

- 'हे महाबाहो ! राम ! तुम्हारे द्वार जिज्ञासित विषय का उपाय कहता हूँ, सुनो ! पहले सगुण उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता साध करके स्थूल सौराम्भिका न्याय के अनुसार मेरे निर्गुण स्वरुप में चित्त को लगाये[1] । (स्थूलसौराम्भिकान्याय अर्थात् जलाशय तक जाने में असमर्थ प्यास आदमी को मरीचिका खींचकर दूर ले जाती है तत्पश्चात् जलाशय निकट होने पर प्रकृत जल को दर्शन और आस्वादन करा सकती है । इसको स्थूलसौराम्भिका न्याय कहते हैं ।)

इसी प्रकार मुमुक्षु साधक को पहले सगुण - उपासना में आरूढ़ कराके चित्त शुद्धि होने पर निर्गुण उपासना में प्रवृत्त कराये । - एसा विधान अग्निपुराण में मिलता है ।[2]

---

१. श्रुणु राजन् प्रवक्षामि तत्रोपायं महाभुज ।
सगुणोपासनाभिस्तु चिन्तैकाग्रयं विधाय च ।
स्थूलसौराम्भिकान्ययांत् तत्र चितं प्रवर्तयेत् ।। (पद्मपुराण शीवगीता १४/५)

२. साधूनामि प्रमत्तानां भक्तानां भक्तवत्सलः ।
उपकर्ता निराकारस्तदा कारेण जायते ।
कार्यार्थं साधकानां च चतुर्वर्ग फलप्रदः ।। (अग्निपुराण)

'भक्तवत्सल भगवान् साधु और भक्त साधकों की उपासना के निमित्त निराकार होकर भी उनके उपास्य देवता के आकार में आविर्भूत होते हैं तथा उनके लिये उपकारक होकर धर्म-अर्थ, काम और मोक्ष - इस चतुर्वर्णरुप फल को प्रदान करते हैं ।

पुराण में प्रतिकोपासना और क्रियायोग :-

वेदकालीन यज्ञयाग और उपनिषद्कालिन अरूप के ध्यान के स्थान पुराण में सर्व के लिये सरल और सुलभ नवीन उपासना पद्धति प्रचलित हुई । मिट्टी, पथ्थर या धातु की प्रतिमा में देवता के आविर्भाव की भावना, और पद्म, अर्ध्य, धूप, दीप, गन्ध, पुष्प, नैवेद्य आदि द्वारा अर्चना ।

जो साधक जीवात्मा की हृदयग्रंथी का शीघ्रछेदन की इच्छा करते हैं, वे वैदिक और तान्त्रिक विधि के अनुसार अभिष्ट देवता की पूजा करें । आचार्य से दीक्षा ग्रहण करें तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अर्चना विधि को जानकर अपनी अभिमत मूर्ति के द्वारा परम पुरुष की पूजा करें ।'[१]

पुराण में अवतारवाद

अवतारवाद पुराणों का प्रमुख अंग है । इसे केन्द्र से ही भक्ति धर्म और भक्तिसाधना विशेष विकसित हुई । पुराण ने अजन्मा ब्रह्म को मृत्युलोक की धरती पर उतारा और सच्चिदानंद आनंदधन को मानव के मध्य पिता, पुत्र, भ्राता, सखा, प्रभु और गुरुरुप में अवतारीत करके मानव और ईश्वर में बीच की जो अभेद्य दीवार थी उन्हे बड़ी कुशलता पूर्वक छेद डाली ।

इसका हेतु एकमात्र रहा होगा कि मनुष्य के भीतर ही भगवान है इस बोध को जाग्रत करके मानव-संस्कृति को एक उच्चतर भूमिका में प्रतिष्ठित किया जाय ।

---

१. अ आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरद देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।
लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन संदिवर्शितागमः ।
महापुरुष अभ्यर्चेन्मूर्त्याभियतचाऽऽत्मनः ॥ (श्रीमद्भा. ११/२/४७-४८)

पुराणों की विश्व साहित्य में यह एक अजोड़ देन है और मानवसंस्कृति पर ऋण ।

पुराणों के मत से तो प्रभु भक्त पर कृपा करके ही मनुष्य रुप पृथ्वी पर अवतारित होते हैं । विविध लीलाएँ करते है और उस लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करके जीव सहज ही प्रभुपरायण हो सकता है । और यह लीला का श्रवण और आस्वादन भी भक्ति का साधन बन गया ।[1]

'हे कृष्ण । जो भक्तजन तुम्हारे चरित्र का श्रवण, मान, उच्चारण या सदा स्मरण करते हैं तथा दूसरों के कीर्तन करने पर जिनको आनंद प्राप्त होता है, वे शीघ्र ही तुम्हारे चरणारविन्द का दर्शन करने में समर्थ होते हैं, जिसके द्वारा शीघ्र उनकी जन्म परंपरा सदा के लिये समाप्त हो जाती है ।

पुराणो में देवतत्व और एकेश्वरवाद ।

साधक अपनी रुची के अनुसार और निष्ठा के अनुसार जो नामरुप की उपासना या भजन करता है उस नाम रुप के आधार से ही वह परम स्वरुप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है–पुराण के यह मत ने विविध नामरुप की आस्था रखनेवाले सभी साधकों को निःशंक करके ईश्वर प्राप्ति का दृढ़ विश्वास दिलाने का उदार कार्य किया ।

---

१. श्रृण्वन्ति गायन्ति गुणन्त्यभीक्ष्णशः ।
 स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरण तावकं ।
 भवप्रवाहोपरम्रं पदाम्बुजम् ।

(भागवत् १/८/३६) कुन्तीस्तुति ।

जैसे कि देवीपुराण में कहा कि – 'एक स्फटिक मणि जैसे नाना प्रकार के वर्णों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देवी भगवती भी सत्वादिगुणों में तारतम्य के कारण नाना भावों में वर्णित होती है । एक ही मेघ जिस प्रकार वर्ण और आकृति के अनुसार पृथक् पृथक् रूपों में अवस्थित होता है उसी प्रकार देवी एक होकर भी गुणों के वश से पृथक पृथक रूपों में अवस्थित होती है ।'[1]

विभिन्न पुराणों में ब्रह्मा विष्णु, महेश के महिमा गान के बाद यह स्पष्ट किया है कि एक ही परम तत्व के त्रिविध प्रकाश है ।[2]

पौराणिक भक्ति साधना में संप्रदाय ।

विष्णु पुराण में ब्रह्मा–विष्णु–महेश के स्वरुप में भेद बुद्धि न रखने की शिक्षा दी है ।[3]

स्कंदपुराण में शिवजी ने अपने ही श्रीमुख से शिव और विष्णु के रुप में भेदबुद्धि न रखने की घोषणा की है ।[4]

---

१. यथातु व्यज्यते वर्णैर्विचित्रैः स्फटिका मणिः ।
तथा गुणवशाद् देवी नानाभावेषु वर्ण्यते ॥
एको भूत्वा यथा मेघः पृथक्तेनावतिष्ठते ।
वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशाञ्जया ॥ (देवीपुराण – ३७/९४–९५)

२. रजः सत्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकं ।
वदन्ति केचिद् ब्रह्माणंविष्णु कचिचशंकरम् ।
एको विष्णुस्त्रिधा भूत्वा सृजत्यत्ति च पाति च ।
तस्मात् भेदो न कर्तव्यस्त्रिषु देवेषु सत्तमैः ॥ (पद्म. क्रिया. २/५–६)

३. सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्माविष्णुशिवा त्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवानक एव जनार्दनः ॥ (विष्णुपुराण १/२/६२)

४. यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः ।
अन्तरं शिवविष्णोश्च मनागपि न विद्यते । (स्कंदपुराण – काशीखण्ड २३/४१)

अतः पुराण में एकेश्वरवाद की बात करने पर भी विविध संप्रदाय और विविध रूपों पर अधिक ज़ोर दिया है अथवा पुराण से ही यह संप्रदाय का प्रवाह निकला ऐसा कहने में भी कोई अत्युक्ति नहीं है । अर्थात् पौराणिक युग में भक्तिमार्ग का प्रवर्तन होने से प्राचीन वैदिक देवताओं का पुनरभ्युदय हुआ तथा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश को केन्द्र में रखकर क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य - ये पाँच उपासक संप्रदायों का आविर्भाव' हुआ तथा उनके मत की पुष्टि के लिये पुराण-उपपुराणों की रचना हुई ।

उसमें अपनी - अपनी विशेष साधना पद्धति पर जोर दिया गया परंतु - वस्तुतः सभी देवता के अभिन्नता के विषय में दृढ़ता से शिक्षा दी गई । ताकि धर्म और संप्रदाय के नाम पर मूल भावों में विरोध या बटवाँरा न हो।

वैष्णव भक्तिमार्ग

वेदों के संहितायुग में देवी-देवता को ही ज्यादा प्राधान्य मिला, एक तारतम्य के अनुसार समस्त ऋग्वेद में प्रायः विष्णुसंबंधी सूक्तों की संख्या पाँच, छः से अधिक नहीं है, जो अन्य मंत्रो और देवी-देवताओं की अपेक्षा नहीं के बराबर कही जा सकती है - वेद में जहाँ इन्द्र को सविशेष स्थान मिलता था - उसी स्थान पर पुराणकाल में विष्णु स्थापित हुए ।

वैष्णव पुराणो में विष्णु परमेश्वर के रूप में पूजित हुए । विष्णुपुराण, नारदीय, गरुड, पद्म, ब्रह्मवैवर्त भागवत आदि पुराणों में विष्णु ही परमतत्व के रूप में ग्रहण किये गये । राम-कृष्णादि विष्णु के अवतार के रूप में पूजित होने लगे। राम-कृष्ण का आलंबन लेकर भक्तिप्रवाह में और बाढ़ आई । जो महाप्रवाह आज भी वैसे ही रूप में प्रवाहित हो रहा है ।

इस भक्तिप्रवाह में प्रभुप्रीत्यर्थ प्रेम का विकास हुआ, और भक्ति का यह चर्मोत्कर्ष हुआ कि भक्त को मुक्ति की इच्छा भी नहीं रही । वह तो सदा सर्वदा भगवत्सेवा के परमानंद में ही लीन रहने की आकांक्षा करने लगा ।[१]

---

१. न कामयेऽन्यं तव पादसेवना
तदकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो । (श्रीमद्भा. १०/५१/५६)

श्री रामचरित मानस के अयोध्याकांड में भक्त भरत के हृदय की भावनाओं को व्यक्त करते हुए तुलसी ने जो दोहा लिखा है इसमें पुराण की उपरोक्त बात को पुष्टि मिलती है ।

अर्थ न धर्मन काम रुचि
गति न चहहूं निर्बान
जन्म जन्म रति रामपद
यह वरदान न आन [1]।

भक्तिमार्ग के साधन

भागवत पुराण में नौ प्रकार के भक्ति के साधनों का उल्लेख है –

(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन, (६) वंदना (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्मनिवेदन या शरणागति ।[2]

वैष्णव के लक्षण :-

पद्मपुराण में वैष्णव लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो भीरु मनुष्य को अभय देते हैं, तथा विप्रो (विद्यार्थियों) को विद्यादान करते हैं उन्हे वैष्णव समझना चाहिए । जो भूख प्यास से पीड़ित मनुष्यों को अन्न जल प्रदान करते हैं तथा रोगियों की सुश्रुषा करते हैं उनको वैष्णव जानना चाहिए । जो जन सेवा के लिये उद्यान निर्माण करते हैं तथा अश्वत्थ आदि वृक्ष लगाते हैं और गो-सेवा करते हैं उनको वैष्णव कहना चाहिए ।[3]

---

१. मानस अयोध्याकांड, दोहा २०४

२. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ॥ (श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४)

३. अभयं येच यच्छन्ति भीरुभ्यश्चतुरानन ।
विद्यादानं च विप्रेभ्यो विज्ञेनयास्ते च वैष्णवाः ।
क्षुत्तृट् प्रपीडितेभ्यश्च ये यच्छन्त्यन्नमम्बु च ।
कुर्युर्थे रोगीशुश्रूषां ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः ॥
आरामश्चरिणो येच पिप्पलारोपिणाऽपि ये ।
गोसेवां ये च कुर्वन्ति ज्ञेवास्ते वैष्णवाजनाः ॥ (पद्म क्रिया. अध्याय-२)

इस प्रकार पुराणों में भक्ति के बीज को पूर्णरुप से जो पुष्टि मिली और कैसे एक वटवृक्षने आकार किया इस बात को हमने यहाँ स्पष्ट किया । विष्णु, शिव, शाक्त आदि भक्ति वह वटवृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ बनी और सभी प्रकार के भक्तियात्रियों के लिये यह पुराणपृथ्वि में से जन्मा भक्तिवृक्ष सुखप्रद, संतोषप्रद, शांतीप्रद एवं अभय की शीतल छाया बनानेवाला बना ।

पुराण में भक्ति के साथ साथ मुक्ति के उपाय भी बताये गये -

मुक्ति की साधन परम्परा

शिवपुराण में कहा गया कि 'आत्मयोग ही शिवतत्व ज्ञान का मूल है। भक्ति का मूल प्रेम है, प्रेम का मूल शिव-महिमा श्रवण है, श्रवण का मूल सत्संग है, और सत्संग का मूल सद्‌गुरु है । साधक जब ज्ञान संपन्न होता है तब उसकी निश्चय ही मुक्ति हो जाती है ।'[१]

अतः हमने देखा की पुराणों में विष्णु उपासना, अवतारवाद, एकेश्वरभाव, भक्ति के साधन, प्रकार, ज्ञान और मुक्ति आदि सुंदर सोपानों का सुंदर दिक्‌दर्शन कराया गया है ।

---

१. ज्ञानमूलं तथाध्यात्मं तस्य भक्तिः शिवस्य च ।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तं प्रेम्णस्तु श्रवणं मतम् ।
श्रवणत्य सतां संग संगस्य सैद्‌गुरुः स्मृतः ।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चिनम् ॥
(शिवपुराण - ज्ञानसंहिता ७८/३०-३१)

रामायण में भक्ति

यह बात निर्विवाद है कि हिन्दु धार्मिक संस्कृति के जितने भी जनप्रिय महाकाव्य एवं शास्त्र है उनमें वाल्मीकि रामायण का स्थान प्रथम पंक्ति में रहा है । जिनका प्रधान विषय भक्ति अथवा शरणागति है ।

संपूर्ण ग्रंथ में शरणागति की भावना व्याप्त है । रामभक्तों का अतिप्रिय शास्त्र और श्रेष्ठ आधार रहा है तो है वाल्मीकि रामायण । संत तुलसी ने भी उसी में से प्रेरणा लेकर 'मानस' लिखा । वे भी वाल्मीकि को आदि कवि के रुप में तथा ज्ञानदीप मानकर प्रणाम करते हैं ।[१]

शरणागति भक्तिमार्ग का पहला सोपान अथवा प्रथम शर्त है ऐसा कह सकते हैं और इस विषय में वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थानों पर श्लोक मिलते हैं ।

देवता लोग भगवान नारायण से कहते हैं -

'इसलिये मुनियों केसाथ मिलकर हम लोग उस (रावण) के वध के लिये आपके पास आये हैं । सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी आपकी शरण में आये हैं ।[२]

---

१. सीतारामगुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ ।
वंदेविशुध्धं विज्ञानो कविश्वर कपिश्वरै ।

(बालकांड मंगलचरण श्लोक - ४)

२. वधार्यं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ।
सिध्धागन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्यां शरणं गताः ।।

(वाल्मीकि रामायण - बालकांड १५/२४-२५)

अरण्यकांड में भी ऋषिमुनि श्रीराम के शरण में आकर प्रार्थना करते हैं कि –

' हे राम ! शरण लेने योग्य आपके समीप हमलोग रक्षा की इच्छा से उपस्थित हुए हैं । राक्षसों के द्वारा मारे जाते हुए हम लोगों की आप रक्षा करें ।'[१]

शरणागति (शरण अपेक्षा तथा शरणदान) का सर्वाधिक पूर्ण उदाहरण वास्तव में विभीषण की शरणागति में ही मिलता है । युद्धकांड के एक श्लोक में शरणागति के पूर्वोक्त छः अवयवों का समावेश हो जाता है ।

– 'सब प्राणियों द्वारा शरण लेने योग्य उदाहरणीय श्री रघुनाथजी से शीघ्र जाकर कहिये कि विभीषण आये हैं ।'[२]

तब श्री राम द्वारा शरणागतवत्सलता के व्रत का निरुपण अति सुंदर शब्दों में हुआ है जो बहुत प्रसिद्ध है ।–

'मित्रभाव से आये हुए विभीष्ण का त्याग मैं कभी भी नहीं कर सकता। संभव है उसमें दोष हो, पर दोषी शरणागत की भी रक्षा करना सज्ज्नों के लिये निन्दित नहीं है । जो शरण में आकर एक बार भी मैं तुम्हारा हूँ' कहकर मुझसे रक्षा चाहता है, उसको मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूं । यह मेरा व्रत है । वानरश्रेष्ठ! उसे मेरे पास ले आओ । सुग्रीव ! अब यह चाहे विभीषण हो या स्वयं रावण ही क्यों न हो । मैंने उसे अभय दे दिया ।'[३]

---

१. ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानात् निशाचरैः ॥ (अरण्य वा. रा. – ६–१९)

२. निवेद्यत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशङ्ण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥ (युद्ध वा. रा. १७/१७)

३. मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कदाचन । दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सततमेतदगर्हिदाम् ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च यायते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्यतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्वाश्रेय मया । विभीषण या सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥
(युद्ध १८/३, ३३, ३४)

इसी उदात्त भावना से और उदारता से श्री सीताजी राक्षसियों को अभय प्रदान करती है ।

'यदि यह बात ठीक हुई तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी ।'[१]

और ऐसी ही उदात्त भावना से प्रेरित होकर वे हनुमान को उन राक्षसियों को दण्ड देने से मना करती है, जिन्होंने उन्हे डराया – धमकाया तथा व्यथित किया था । वे क्षमा के दिव्य एवं सर्वोच्च सिद्धांत का निरुपण करती हुई कहती हैं – ''पापी हो, पुण्यात्मा हो अथवा वध के योग्य क्यों न हो ! सज्जनों को अपराधियों पर दया करनी चाहिए, क्योंकि अपराध किससे नहीं होता ![२]

रामायण में आदि से अन्त तक सभीने अरे स्वयं रावणने भी भगवान् विष्णु के रुप में श्री रामकी भगवत्ता का प्रतिपादन किया है, यद्यपि श्रीराम स्वयं अपने को मानव ही बतलाते हैं ।

'मैं अपने को दाशरथि राम के रूप में मनुष्य ही मानता हूं''[३] अर्थात् परब्रह्म यहां मनुष्यता की महिमा बढ़ा रहा है ।

अवतारी पुरुष भगवान राम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए सभी देव ब्रह्मा के नेतृत्व में कह रहे हैं और भक्ति के आधारशिला रुप श्रध्धा के साथ कह रहे हैं कि, 'आपके जो भक्त होंगे, वे कहीं असफल नहीं होंगे।'[४]

---

१. अवोचद्यपि तत्तथ्यं भवेवं शरणं हिवः । वा.रा. (सुंदर ५८/९२)

२. पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्गेण न कश्चिन्नापराध्यति ॥ वा.रा. (युद्ध ११३/४३)

३. आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्यजम् । वा.रा. (युद्ध ३१७/११)

४. अमोधास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥ (वा.रा. अरण्यकांड)

वाल्मीकिजी विशेष करके अरण्यकांड में दिखलाते हैं कि ऋषि शरभङ्ग से लेकर भीलनी शबरी तक सबके लिये भगवान की कृपा का द्वार खुला है और भगवद्भक्ति सभी को मुक्ति के सहज अधिकारी बना देती है। इससे बड़ा अभय कौन हो सकता ? भक्ति से बड़ा राजमार्ग कौन हो सकता है और इससे बड़ा भगवत्कृपा का और प्रमाण कौन हो सकता ?

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति-प्रपत्ति

उपनिषद वेदों का सार है और गीता उपनिषदों का सार है। इसलिये हम गीता को 'सर्वशास्त्रमयी' भी कह सकते हैं ॥

गीता में यद्यपि कर्मयोग, सांख्ययोग, उपासनायोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि सभी योगों का निरुपण पाया जाता है, तथापि गीता का हृदय शरणागति-प्रपत्ति-योग ही है।

मीमांसको ने ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय करने के लिये (१) उपक्रम (२) उपसंहार और (३) अनुवृत्ति यह तीन साधनों का स्वीकार किया है। अर्थात् आरंभ उपसंहार और समाप्ति के शब्दों से ग्रंथ क्या कहना चाहता है, किस विषय का है, उसका अभिप्रेत क्या है इन सब बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

गीता में जब तक अर्जुन - श्रीकृष्ण की शरण में शिष्य भाव से नहीं आया है तब तक श्रीकृष्ण चुप रहे हैं जिन्हें हम थोड़े विस्तार से देखे।

अर्जुन कृष्ण से कहता है कि - 'बुद्धि की कृपणतारुप दोष से कारण मेरा शौर्यतेजोधृतिसम्पन्न क्षत्रिय स्वभाव - बदल गया है और धर्मा धर्म निर्णय में मेरा चित्त सर्वथा मूढ़ हो गया है, इसलिये मैं आपको स्वकर्तव्य पूछता हूं।[1] यहां मित्रभाव से पूछा गया है शरणागति के भाव से नहीं इसलिये प्रभुने कोई जवाब नहीं दिया।

---

१. कार्वण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वो धर्मसम्मूढचेताः ।(गी. २-७)

अर्जुनने श्लोक के तीसरे चरण में आगे कहा कि 'हे प्रभो ! जो मेरे लिये कल्याणकारी बात हो उसे निश्चितरूप से कहिये ।'[१] फिर भी कृष्ण सारथी के रूप में थे इसलिये चुप रहे परंतु जब अर्जुन बोला कि ''मैं आपका शिष्य हूँ'[२] और अति विचलित अर्जुन को शिष्यत्व का स्वीकार करता हुआ देखा तभी भी कृण चुप रहे परंतु जब अंत में अति गदगदित होकर अर्जुन बोल उठा कि 'हे देवाधिदेव मैं आपकी शरण में पड़ा हूं मुझे शिक्षा दीजिये' ।[३]

जब अर्जुन के मुख से 'प्रपन्नम्' शब्द निकला तो श्री कृष्ण अर्जुन को तंत्वोपदेश देने के लिये तैयार हो गये ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रपत्ति भक्ति की पहली सीढ़ी है जैसे ही भक्त बनकर, शरणागत बनकर कोई प्रभु की शरण में जाता है और शिष्यभाव से गद्गदित होता है तो भगवान भी कृपा करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। हम कह सकते है कि गीता का वास्तविक आरंभ 'प्रपत्ति' से होता है, अर्जुन 'प्रपन्नम्' शब्द न बोला होता तो कृष्ण का मुँह कभी भी उपदेश के लिये नहीं खुलता, न गीता इस शरणागति के बिना जन्म लेती ।

---

१. यच्छ्रेयः सान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (२/७)

२. शिष्यस्तेऽहम् (२/७)

३. शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (२/७)

१४ अध्याय में उपसंहार भी 'प्रपत्तियोग' से ही हुआ और अपने उपदेश का पर्यवसान भी 'प्रपत्तियोग' में ही किया ।

''हे अर्जुन सर्वधर्म को छोडकर मेरी अनन्य शरण चला आ में तुझे मुक्त कर दूंगा, चिंता मत कर ।''[१]

इस प्रकार गीता का आरंभ और अंत हमने शरणागति में देखा और बीच बीच में भी अनेकबार प्रपत्तियोग (भक्ति योग) की ही बात है ।

१. '-जो जिस रीति से मेरे शरण में आता है, मैं भी उसको उसी भाव से ग्रहण करता हूं ।'[२]

२. 'मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं ।'[३]

३. 'हे पार्थ ! शूद्रादि भी मेरे शरण में आकर परम गति को पा जाता है ।'

४. जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है ।[४]

५. उस भगवान की शरण में चला जा, उससे तुम्हे मोक्ष पद की प्राप्ति हो जायेगी ।[५]

---

१. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्वामि मा शुचः ॥ (गीता १४-६६)

२. ये यथा मां प्रपद्यते'तां स्तथैव भजाम्यहम् (४/११)

३. मभ्दक्ता यान्ति मामपि । (८/२३)

४. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य......तेऽपि यान्ति
परां गतिम् (९-३२)

५. यो मद्रक्तः स मे प्रियः (१२/१४-१६)

६. 'एक मात्र मेरी - शरण में चला आ'[१]

७. मुझ में उत्कृष्ट - भक्ति करके निःसंदेह मुझे प्राप्त हो जायेगा ।[२]

इस प्रकार गीता में आदि से अंत तक भक्ति भाव का निर्वाह होता है। गीता के कृष्ण ने १२ वें अध्याय को भक्ति योग नाम देकर भक्त के लक्षणों का वर्णन भी किया है - जो निम्नलिखित है -

भक्त के लक्षण :- श्लोक १३ से २० तक

१. प्राणी-भूत मात्र के प्रति अद्वेष

२. सर्वमित्र

३. करुणाशील

४. ममत्व रहित

५. अहंकार रहित

६. सुख दुःख को समान माननेवाला

७. संतोषी

८. सतत योगी

९. मन और इन्द्रियों के साथ देह को वश में रखनेवाला ।

१०. निश्चयी - दृढ़निश्चयी

११. मन और बुद्धि प्रभु को अर्पण करनेवाला

१२. कभी भी पीड़ित न होनेवाला

---

१. मामेकं शरणं व्रज (१८/६६)

२. भक्तिं मयि परां कृत्वा मामैवैष्यत्यसंशयः । (१८/६८)

१३. हर्ष से परे और दूसरे की उन्नति में प्रसन्न होनेवाला

१४. भयमुक्त ।

१५. उद्वेगमुक्त ।

१६. अपेक्षा रहित

१७. पवित्र

१८. दक्ष - कुशल

१९. निस्पृही

२०. व्यथामुक्त

२१. सर्वारंभ का त्याग करनेवाले ।

२२. हर्ष - शोक रहित ।

२३. रागद्वेष से पर

२४. शोकरहित

२५. आकांक्षा रहित

२६. शुभाशुभकर्मत्यागी (कर्मफल त्यागी)

२७. शत्रुमित्र - समभाव

२८. मान-अपमान में समभाव

२९. सुख - दु:ख में समभाव

३०. नि:संग

३१. निंदास्तुति में समभाव

३२. मौनी

३३. सतत संतोषी (हर हाल में खुश)

३४. गृह के प्रति अनासक्त

३५. स्थिरमति ।[1]

---

१. अद्वेष्टा सर्व भूतानाम् मैत्रः करुण एव च ।
निर्मणो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योभद्भक्त स म प्रियः ॥
यस्मान्नद्विजतेलोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वैगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्यक्ष उदासीनो गतव्यथः
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्ति मान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानपमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौ मी सतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्य प्रियो नरः ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (गीता १२/१३-२०)

सगुण निर्गुण उपासना में कौन सरल ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं कि दोनों प्रकार के भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं जहाँ साधना का प्रश्न आता है वहां सगुणोपासना सीधी, सरल और सुखद है, तथा निर्गुणोपासना टेढ़ी, कठिन और कष्टप्रद है ।[1]

सगुणोपासना, राजयोग, या भक्तिमार्ग ज्ञानविज्ञान से संयुक्त, परम पवित्र, प्रत्यक्ष, धर्मयुक्त और सुखकर है । किंतु यह बात समझ में आनी बहुत कठिन है । इसलिये भगवान इसे 'राजविद्या राजगुह्यम्' कहते हैं ।

सर ए. डी. एडिंग्टन भी लिखते हैं :-

"In history religious mysticism has often been associated with extravagances that cannot be approved.....

"A point that must be insisted on is that religion or contact with spiritual power, if it has any general importance must be a Common place matter of dirty life and it should be treated as such in my discussion."[2]

अतः एडिंग्टन जैसे विद्वान भी इतना तो स्वीकार करते हैं कि भक्ति मार्ग चाहे अतिशयोक्ति पूर्ण लगे परंतु उसकी सर्वसाधारण के जीवन में महत्वपूर्ण आवश्यकता है ।

---

१. कलेशोऽधिक तर स्तेषामव्यक्तासक्तचेत साम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्य ते ॥ (१२/५)

२. " The nature of the physical world" by Sir A. D. Eddington.)

भक्ति ईश्वर के साथ स्नेहमय – प्रेममय अहंकार शून्य संबंध का ही पर्याय है । यूरोप के प्रसिद्ध वैज्ञानिक रेकेजेक (Recejec) ने इस प्रेममय संबंध की अनुभूति को निम्नांकित शब्दों में प्रकट की है ।

"I live, yet not I, but God in Me."

अर्थात् मैं जीवित हूँ परंतु मेरे अंदर 'मैं' याने 'अहं' नहीं परंतु ईश्वर जी रहा है ।' यह भाव भक्त का है ।

प्रभु की उदारता

भगवान की शरण में जानेवाले को प्रभु अभय और निश्चिंत बना देते हैं ।

"प्रभुकार्य में सतत संलग्न भक्तों का योगक्षेभ में चलाता हूं"[१]

यदि ऐसा भी नहीं हो सकता तो यथाशक्ति, यथोचित, यथासमय, प्रभुकार्य करने के लिये तैयार रहते हैं, उन्हें भी भगवान आश्वासन देते हुए कहते हैं कि –

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से पत्र पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेम पूर्वक अर्पण किया हुआ पत्रपुष्पादि मैं सगुण रुप से प्रकट होकर प्रीतिसहित स्वीकार करता हूं'–[२]

---

१. अनन्याश्चिन्तयनौ मां ये जनाः पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम् ॥ (गीता ९–२२)

२. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्वा प्रवच्छति ।
तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (गीता ९/२६)

प्रभु तो दुराचारी को भी स्वीकार करने को तैयार है ।[1] उपरांत चर्तुवर्ण तथा आबालवृद्ध नरनारी सभी को भगवान भक्ति का अधिकार देते हैं ।[२-३]

इस प्रकार गीता में आदि से अंत तक भक्तिमार्ग की प्रशस्ति हुई है इतना ही नहीं परंतु गीता की भक्तिभावना और भक्ति विषयक सभी बातों को आधार मानकर ही अपनी अपनी साहित्य रचना की है ।

अतः हम कह सकते हैं कि गीता भक्तियोग का सारतत्व है ।

---

१. अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । (९-३०)

२. स्त्रियो वैश्यास्तथाशुद्रास्तेऽपि यान्ति परांगंतिम् । (९-३२)

३. यन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुल
मामेवैष्यसि युक्तैवमात्मानं मत्पराणाः । (९-३४)

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति

भक्ति विषयक समस्त साहित्य में नारदभक्ति सूत्र का स्थान सर्वथा महत्वपूर्ण रहा है । इन सूत्रों के आधार पर अच्छे अच्छे विद्वानो ने भक्तिविषयक अपनी लेखनी चलाई है ।

नारदभक्ति सूत्र में सरल और संक्षिप्त रुप में भक्तिविषयक संपूर्ण वर्णन समाविष्ट हो गया है । इन सूत्रों को अन्य शास्त्रों और पुराणोंने अति प्रामाणिक भी माने हैं । जो सूत्र संख्या ८४ है ।

यह सूत्र चार अध्याय में बांटे गये हैं - और चारो के नाम अनुक्रम से समन्वय, साधन, प्रमेय और फल है ।

प्रथम अध्याय में - भक्ति की व्याख्या, उसका अनन्य लाभ, भगवान में अनन्य भाव, कर्मरहित न होने का बोध, भक्ति के विविध लक्षण, आत्मनिवेदन भक्ति और निःस्वार्थ भक्ति आदि का वर्णन और शिक्षा है।

अध्याय दूसरे में - भक्ति का बड़प्पन, ज्ञान और भक्ति, भक्ति से भक्ति भाव की जाग्रति, भक्ति की वृद्धि करनेवाले साधन, संतसमागम संतकृपा, विषयसंग का त्याग, सत्संग की महिमा, आदि के सूत्र है ।

तीसरे अध्याय में - भगवान का स्वरूप साधारण भक्ति के भेद, भक्ति में सुलभता, भक्त का चिंतारहित व्यवहार, भक्ति के नियम, आदि के विषय में सूत्र दिये गये है ।

और चतुर्थ अध्याय में - उत्तम भक्तों की महिमा, भक्तों में अभेद भाव, वाद का निषेध, भक्तजन की प्रवृत्तियाँ, भक्त की शुद्ध भावना, भक्ति के ग्यारह प्रकार, प्रसिद्ध भक्तों की नामावली, शास्त्र की समाप्ति और महिमा आदि का वर्णन है ।

भक्ति की व्याख्या करते हुए नारदजी कहते हैं कि –

''परमप्रेमरुपा[१] (१) अमृतस्वरुपा[२] – वह परम प्रेमरुप और अमृतस्वरुप है । जो प्राप्त होने से पुरुष सिद्ध और अमर बन जाता है ।

'यत्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति तृप्तो भवति ।[३]

१२. भवतु निश्चयद्दाढर्यादूर्ध्वं शास्त्र रक्षणम्[४] – भगवान एक ही आधार है ऐसा मानकर शास्त्रमर्यादा का पालन करना अन्यथा प्रतीति होने का भय है ।

भक्ति के लक्षणों का वर्णन करते हुए नारद कहते है कि – पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः[५] ।

गर्गाचार्य के मत से सेवापूजा में प्रेम, भगवान की कथावार्ता, भजन कीर्तन आदि भक्ति के लक्षण है ।

आत्मनिवेदन भक्ति के लक्षण बताते हुए, नारद जी कहते हैं कि 'परमव्याकुलतेति'[६]

'यथा व्रजगोपिकानाम्[७] । – यह भक्ति श्रेष्ठ भक्ति है और इसमें प्रभु का परम विरह होता है जैसे कि व्रज की गोपियों को हुआ था ।

ज्ञान और कर्म से भी नारद ने भक्ति को अधिक माना है । 'सा तु कर्म-ज्ञान-योगेभ्योऽप्यधिकतरा[८] ।

और भक्ति से ही भक्ति प्रकट होती है 'स्वयंफलरुपता'[९] ।

संतसमागम को भक्ति का मुख्य साधन माना है सत्संग को दुर्लभ भी बनाया है –

'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा'[१०] ।

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्याऽअमोघश्च'[११] ।

भगवान के दर्शन भी संतकृपा से ही होते है –

''लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव''[१२] ।

१-१२. नारदभक्ति सूत्र १, ४, १२, १६, १७, १९, २१, २५, ३०, ३८, ३९, ४०

भक्तिमार्ग में विषयसंग का त्याग करने को कहा है ''दु:संगः सर्वथैव त्याज्यः[1]।

भक्ति अनिर्वचनिय, परम प्रेम स्वरुपा और गूंगे के गूड़ के समान है । – 'मूकास्वदानवत्'[2] ।

भक्ति के तीन भेद भी इस भक्ति सूत्र में बताये गये हैं – 'गौणी त्रिविधा गुणभेददार्तादिभेदाद्वा[3] ।

सात्विक, राजसी और तामसी । जिनमें सात्विक भक्ति उत्तम है, राजसी मध्यम है और तामसी कनिष्ठ है ।

भक्तो का आचरम करने युक्त कुछ नियम भी बताये गये है –

स्त्रीधननास्तिकवैहिचरित्रं न श्रवणीयम्[4] ।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्[5] ।

अर्थात् – भक्तजन को स्त्री, धन नास्तिक एवं शत्रुओं के विषय में चर्चा नहीं करना और नहीं कुछ सुनना, उपरांत अभिमान, दंभ आदि को बढ़ानेवाली आचरण और वेशभूषा का त्याग करना ।

उत्तमभक्त किसे कहेंगे ? – इस विषय में नारद का मत है – 'भक्ताः एकान्तिनो मुख्याः[6] । एकान्तिक और एकनिश्चयी भक्त श्रेष्ठ है ।

नारदजी के मत से भक्ति ग्यारह प्रकार की है ।

१) गुणमहात्म्यासक्ति २) रुपासक्ति ३) पूजासक्ति ४) स्मरणासक्ति ५) दास्यासक्ति ६) सख्यासक्ति ७) आत्मनिवेदनासक्ति ८) तन्मयतासक्ति ९) परमविरहासक्ति।

और नारदजी के भक्ति विषयक इस मत के साथ सनतकुमार, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, उध्धव, बलि, हनूमान, विभीषण, आदि भक्तितत्व के आचार्यगण एकमत हैं ।

१–६. नारदभक्ति सूत्र ४३, ५२, ५६, ६३, ६४, ६७

श्रीशाण्डिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति

काश्यप वंशी, महर्षि देवल के पुत्र शांडिल्य ने जैसे भगवान् वेदव्यास ने समस्त श्रुतियों का समन्वय करने के लिये ज्ञानपरक ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किया ठीक वैसे ही श्रुतियों और गीता का भक्ति – परक तातर्प्यनिर्णय करने के लिये एक छोटे से किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण भक्तिसूत्र का प्रणयन किया जिसका नाम है 'शांडिल्य भक्ति सूत्र' – यदि भक्ति साहित्य में से 'शांडिल्य भक्ति सूत्र' और 'नारद भक्ति सूत्र' इन दो छोटे से ग्रन्थों को निकाल दिया जाय तो भक्ति की व्याख्या मानो अधूरी ही रह जायेगी !

शांडिल्य भक्ति सूत्र में कुल तीन अध्याय है और सूत्रो की संख्या १०० है ।

महर्षि शांडिल्य ने भक्ति परक एक संहिता की भी रचना की है जिसका नाम है शांडिल्य संहिता ।

महर्षि शांडिल्य भक्ति की व्याख्या अथवा लक्षण बताते हुए प्रथम सूत्र में ही कहते हैं कि – 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[१] प्रभु के प्रति परम अनुराग से ही भगवान्मय हो जाता है । उसका अन्तःकरण अन्तकरण के रूप में पृथक न रहकर भगवान में समा जाता है । और यही मुक्ति है ।

महर्षि शांडिल्य के मत से जीवों का ब्रह्मभाव उत्पन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्म से अत्यंत विभिन्न है, उनका आवागमन स्वाभाविक नहीं है, किन्तु जपाकुसुम सानिध्य में स्फटिकमणि की लालिमा के समान, अन्तःकरण की उपाधि से ही होता है ।

---

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १

किन्तु केवल औपाधिक होने के कारण ही वह ज्ञान से नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय - इन दोनों में से किसी एक की निवृत्ति से या संबंध छूट जाने से ही हो सकती है । चाहे कितना भी ऊँचा ज्ञान हो, किन्तु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुम का सान्निध्य रहते लालिमा की निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जबतक अन्तःकरण है, तब तक न तो उपाधि और उपाधेय का सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता और न आवागमन से जीव बचाया जा सकता । अतः उपाधि के नाश से ही भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, आत्मज्ञान से नहीं उपाधि - नाश के लिये - भगवद्भक्ति से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है ।

शांडिल्य के मत से भक्ति दिव्य स्वरुपा है[१] और कारुण्य भाव भक्ति का प्रधान अंग है ।[२] भक्ति के परमानंद के पास समाधिसुख भी गौण है ॥[३] और श्रद्धा भक्ति का मुख्य आधार है ।[४] इश्वर को संतुष्ट करने के लिये यह एक ही पर्याप्त है ।[५] 'स्व' का पूर्ण समर्पण पूजन एवं पादसेवन कर शांडिल्य ने जोर दिया है ।[६-७-८]

इस प्रकार अपने सूत्रो में शांडिल्य ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के साथ साथ भक्ति के प्रकार, साधन और उसके विघ्नो की निवृत्ति आदि का बड़ा सुस्पष्ट तथा दार्शनिक विवेचन किया है ।

---

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र - तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात् ॥४८॥

२. वही - मुखं तस्य हि कारुण्यम ॥४९॥

३. वही - गौण्या तु समाधिसिद्धिः ॥२०॥

४. वही - नैव श्रध्धा तु साधारण्यात् ।

५. वही - ईश्वरतुष्टेरकोऽपि बली ॥६२॥

६. वही - 'पूजायामितरेषां'' ॥६६॥

७. वही - 'पादोदकं तु' ॥६७॥

८. वही - स्वयमर्पितं ॥६८॥

हिन्दी साहित्य में भक्ति

आगे हम देख चुके कि प्राचीन आर्यो की भाषा वैदिक संस्कृत थी, और वैदिक ज्ञान के आधार पर वह आध्यात्मिक उपदेश, सुख-शांति और धार्मिक विधिविधान प्राप्त कर सकते थे । उसी वेद के अंग उपनिषद के द्वारा भी ज्ञान और भक्ति के साधन प्राप्त हुए । उपनिषद का गहन ज्ञान और कठिन भाषा कालान्तर में प्राकृत संस्कृत में परिवर्तित होकर शास्त्र एवं पुराणों का रूप धारण करके सरल और सगुण भक्ति के रूप में जनसाधारण को उपलब्ध हुआ और यही भक्तिधारा कभी दबती कभी उभरती पौराणिक संस्कृत अर्थात् लौकिक संस्कृत से प्राकृत - पाली अपभ्रंश और ऐसे धीरे धीरे हिन्दी और हिन्दी के कई उपबोलियाँ और अन्य भाषाओं में उतर आई । जीसे हम आगे और स्पष्ट रूप से देखेंगे।

भक्तिकाल का काल निर्धारण

हिन्दी साहित्य में ''भक्तिकाल'' किस कालखंड को माना गया है यह महत्वपूर्ण बात है ।

- ज्योर्ज ग्रियर्सनने ११ खंडों में कालविभाजन किया है और 'भक्तिकाल' को 'पंद्रहवीं' शती का धार्मिक पुनर्जागरण नाम दिया है ।
- आगे चलकर मिश्रबंधुओंने भक्तिकाल को माध्यमिक काल कहा और १४४५-१५६० वि. को पूर्वमाध्यमिक नाम दिया और १५६१ से १९८० वि. प्रौढ़ माध्यमिककाल कहा ।
- आचार्य रामचंद्र शुक्लने 'भक्तिकाल' को पूर्वमध्यकाल नाम देकर इसका समय संवत् १३७५ से १७०० तक का दिखाया ।
- इसके बाद डॉ. राजकुमार वर्माने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पूर्व-मध्यकाल को भक्तिकाल नाम दिया और कालखंड रहा - सं. १३७५ से १७०० तक ।[1]

---

१. हिन्दी साहित्यिक निबंध - 'हिन्दी साहित्य का काल विभाजन
- डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त । पृ.२००/२०१

भक्तिकाल के सोपान

मध्यकाल में प्राय: देश के सभी विस्तारों में अनेकानेक संतों की और महापुरुषों की मानो बाढ़ आई ! यह जनक्रांति का असाधारण उदाहरण है ।

मध्यकालीन भक्ति आंदोलनने पूरे राष्ट्रमानस को प्रभावित कर दिया । इस देशव्यापी भक्तिप्रवाह को प्रवाहित करने में संत एवं महापुरुष निमित्त बने । भक्ति के इन सूत्रधारों ने अपनी पूरी शक्ति मानो जनजागरण में लगा दी और घर घर में राम और कृष्ण नाम की धुन गूँज उठी ।

इस आंदोलन की विशेषता यह रही कि उस वक्त जांति-पांति-उंच-नीच-ब्रांह्मण-शूद्र की भेदरेखा मिटने लगी और सबकी आलापी एक ही रही, और इस आलाप का मुख्य स्वर रहा भक्ति । इसमें मोटे तौर पर संतो का प्रदान रहा ।

इस आंदोलन से जनजीवन और जन मानस को जबरदस्त सांस्कृतिक प्रेरणा मिली ।[१]

इस भक्ति आंदोलन के तीन सोपान में तीन महान संतो का बहुत बड़ा योगदान रहा है । प्रथम सोपान पर संत कबीर का द्वितीय सोपान पर संत तुलसी का और तृतीय सोपान पं. संत रामदास और गुरु गोविंदसिंह का ।

---

१. आधुनिक कालीन स्वातंत्र्य आंदोलन की भांति मध्यकालिन भक्ति आंदोलन भी राष्ट्रीय जागरण की कोटि का था । दोनो ही आंदोलन मूलतः सांस्कृतिक पुनरुत्थान की मनोभूमि से उद्‌भूत हुए थे । दोनो में अंतर यह है कि सामयिक परिस्थितियों के आग्रह से सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भाव मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के रुप में फूट पड़ा था । और आधुनिक काल में स्वातंत्र्य आंदोलन के रुप में ।

– श्री रामचरित मानस में जीवन मूल्य, पृ. ४० – डॉ. अमितारानी सिंह ।

कुछ विद्वानों का मत है कि भक्ति आंदोलन मुसलमानी शासन से हारी, थकी और शोषित हिन्दू प्रजा की भगवान के प्रति शरणागति का अंतिम आधार रुपी सीढ़ी का फल है[1] परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है ।

''भक्ति द्राविड उपजी लाये रामानंद'' –

भक्ति की लहर तो दक्षिण में उठी थी जो आगे चलकर पूरे भारत में फैली । हाँ, राजनैतिक उथल-पुथल में यवनों का साम्राज्य और हिन्दू धर्म को बचाने की भावना इस आंदोलन में अवश्य निमित्त बनी, परंतु कोई केवल निराशा में ही भक्ति आंदोलन के जन्म को माने तो यह बात उचित नहीं लगती है ।

भक्ति आंदोलन को हताशा में से उत्पन्न माननेवाले आ. श्रीरामचंद्र शुक्ल को ही आगे चलकर अपने निवेदन को बदलना पड़ा है ।[2] और दक्षिण से आया हुआ भक्ति का झरना लोगों के हृदय में स्थान पाकर भागीरथी बन गया, यह बात स्पष्ट होती है ।

---

१. देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया... अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की और ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?

– 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ. ४३ (भक्तिकाल) आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

२. भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की और आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला ।

– आ. रामचंद्र शुक्ल – हिन्दी सा. इतिहास पृ. ४४

प्रथम सोपान :-

भक्ति आंदोलन के प्रारंभ के पहिले नाथ और सिद्ध संप्रदाय के हठयोग की कोरी साधना पद्धति एवं कठिन साधना पद्धति सामान्यजन के लिये काम की और बस की न थी । नाना प्रकार के अन्धविश्वास, प्रदर्शनप्रियता, पाखंड आदि व्याप्त हो गये थे । ऐसी स्थिति में सगुण और निर्गुण-निर्मल-सरल भक्तिधारा ऐसे बही कि उस धारा में पाखंड, धर्म के नाम ढोंग और पापाचार थे वह और धर्म का झूठा प्रदर्शन - सब कुछ बह गया और इन सब चीजों में दबा हुआ धर्म संतों की सरल वाणी प्रवाह में मज्जन करके असल रुप में प्रकट हुआ ।

द्वितीय सोपान :-

मुसलमान शासन के सामने हिन्दु - सनातन धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिये स्वामी रामानंदने परम पुरुषार्थ प्रारंभ कर दिया था । सगुण-निर्गुण दोनों पंथ के लोगों को उन्होंने भक्तिमंच पर एकत्रित करने का भगीरथ कार्य किया और उन्हीं से प्रेरणा पाकर कई संत अपने अपने क्षेत्र में जनजागरण के कार्य में प्रवृत्त हो गये ।

और यहां यह भी स्पष्ट हो जाय की जब सगुणोपासना की धारा भारत में बहने लगी तब वह काल अकबर का था वह भी एक सुखदाश्चर्य है । अकबर अन्यों की अपेक्षा सौम्य और उदारमतवादी था ।

संतकबीर और संत तुलसी जो निर्गुण और सगुण भक्ति शाखा के आधारस्थंभ है वे दोनों को भारत ने संत रामानंद के शिष्यों के रूप में प्राप्त किया ।

तृतीय सोपान :-

अकबर के बाद मुगल साम्राज्य में हिन्दुओं का त्रास बढ़ता गया, अब केवल मूर्तिपूजा, रामनाम या भाग्यवाद से काम चलने वाला नहीं था । परंतु सगुणभक्ति के ज़ोरशोर से प्रचार के कारण सांस्कृतिक गौरव, आत्मगौरव, जातिगौरव, धर्म गौरव एवं श्रद्धा तथा आत्मविश्वास वढ़ गया था । लोगों की आस्था पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी, आवश्यकता थी प्रेरणामूर्ति की, और एसे नाजुक क्षणों में मराठा शक्ति के नेता शिवाजी को संत रामदासजी से प्रेरणा मिली । तो दूसरी ओर सिक्खों के गुरु गोविंदजी ने प्रेरणा पियूष पिलाकर हिन्दू एकता, हिन्दु धर्म और संस्कृति को अमर रखने का प्रयत्न किया ।[1]

१. भक्तिकाल की परिस्थितियां संक्षेप में :-

१) मध्यप्रदेश में राजपूति वीरता का द्रास हो चूका था और मुसलमान भारत में साशक वर्ग के रुप में बस गये थे । जो प्रदेश हिन्दूओं के अधिकार में थे वे थी अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे । इस प्रकार राजनीति के अनिश्चय से इस काल से हिन्दू जनता विशेष आतंकित थी ।

२) इस काल में मुसलमान प्राय: पूरे देश में बस चुके थे और अब हिन्दु धर्म पर एक विशिष्ट धर्ममत (इस्लाम) का आक्रमण हो रहा था । यह धर्मसाधना समूहगत होती थी । इस के संपर्क में आन से हिन्दू जाति की कठोरता एवं संकीर्णता ओर बढ़ी और इस कठोरता से पीड़ित वर्गने एक नवीन मत की स्थापना की, जिसका रुप इस उक्ति में निहित है -

'जाति पाँति पूछे नहीं कोई
हरि को भजे सो हरि का होई ॥'

३) इस युग में एक और बौद्ध धर्म अपने धर्माचार से और नाथयोगी अपने हठयोग से समाजमें चमत्कार पूर्ण कृत्यो द्वारा अव्यवस्था फैलाए हुए थे, तो दूसरी ओर इस्लाम का उदय हो रहा था, बौद्ध, सिद्ध और नाथ योगी भ्रष्ट होकर गृहस्थ होने की इच्छा कर रहे थे, किन्तु हिन्दू जाति के संकीर्ण घेरे में उन का प्रवेश मुश्किल था । एक सामान्य भक्तिमार्ग की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे हिन्दु मुसलमान, छूत-अछूत ऊँच-नीच सभी अपना सके, यही आग चलकर निर्गुण संतमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

४) निर्गुण संतमत की दो शाखाएँ हुई –

(१) ज्ञानाश्रयी शाखा (२) प्रेमाश्रयी शाखा प्रहेली के प्रवर्तक कबीरदास है और दूसरी के प्रवर्तक कबीरदास है और दूसरीके प्रमुख कवि जायसी है। सूफी कवियों ने दोनों जातियों को समीप लाने का प्रयास किया। वे मुलायम तबियत के मुसलमान थे।

५) प्राचीन वैष्णवभक्ति के अवतारवाद के आधार पर रामभक्ति और कृष्णभक्ति का नवीनरुप में विकास हुआ, स्वामी रामानंद के रामनाम के महामंत्र को निर्गुण संत और सगुणोपासक भक्तों ने भिन्न भिन्न अर्थो में ग्रहण किया।[1]

इस प्रकार विविध संतों के पुरुषार्थ से मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन सफल रहा और भक्तिवृक्ष की मुख्य दो शाखाएँ फूटी, जो निर्गुण परंपरा और सगुण परंपरा के नाम से प्रचलित हुई।

निर्गुणभक्ति शाखा

इस शाखा की दो उपशाखाएँ हुई – ज्ञानमार्ग और प्रेममार्ग. और दोनों के मार्गियोंने सामान्यजन को सरल साधना पद्धति के करीब लाने का प्रयत्न करके इस माध्यम से ईश्वरभक्ति और प्रभुप्रासन्य का प्रयत्न किया।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा के प्रमुख संत कवि कबीरदासजी रहे उपरान्त, गुरुनानक, मलूकदास, दादूदयाल, सुंदरदास, धरमदास, रैदास आदि के साहित्य का प्रमुख प्रदान रहा।

कबीरदास के जन्म के विषय में कई मतमतांतर है। परंतु एक बात सामान्य रुप से प्रचलित है कि स्वामी रामानंदजीने एक विधवा कन्या को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया, फलतः उस विधवा को पुत्र हुआ, वह उसे लहरताला तालाब के पास फैंक आई और अली नाम का जुलाहा उस बालक को अपने घर ले आया और यह बालक आगे चलकर कबीर बना।

---

१. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ – पृ. १४५ – जयकिशनप्रसाद खण्डेवाल।

कबीर की वाणी और उपदेश ऊँच-नींच और जाति-पांति तथा स्थूल कर्मकांड से उपर उठकर प्रकट हुई है । कबीर के अनुयायी हिन्दू भी बने और मुसलमान भी ।

कबीर का सत्संग, देशाटन से अनुभव जन्मगत संस्कार, रामानंद स्वामी का प्रभाव और तत्कालीन समाज की आवश्यकता इन सब बातों के सामंजस्य से कबीर की वाणी में से अद्वैतवाद टपकने लगा -

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना
राम नाम का मर्म हे आना ॥[१]

- यहां निर्गुण की अभिव्यक्ति सहज रुप से हुई है - कबीर जी की वाणी पढ़कर लगता है कि वैष्णवों का उपासनामार्ग, नाथ, सिद्ध और हठयोगियों की साधना पद्धति, सूफियों का प्रेम भाव और योगी तथा ज्ञानियों के ज्ञानमार्ग इन सब का समन्वय कबीर ने एक नये रुप से करके एक नया पंथ खड़ा किया ।

साईं के सब जीव है कीरी कुंजर दोय ।[२]

यहां गीता का अद्वेष्टासर्वभूतानाम् का भाव प्रकट होता है ।

गहना एक कनकतें गहना इन महँ भावन दूना
कहन सूनन को दुई करिथापित इक निमाज़ इक पूजा ।[३]

इन बातों से वेदान्ती के कनककुंडल न्याय की गहन बात का भी उद्घाटन किया और हिन्दु-मुस्लिम में समन्वय की बात भी बताई ।

कबीर जी की साखियाँ पढ़कर लगता है कि उन पर जैनमत का अहिंसावाद का भी प्रभाव था ।

बकरी पाँति खात है ताकी कढ़ीखाल
जो जन बकरी खात है ताको कौन हवाल ?[४]

१-२-३-४. कबीरवाणी

यह अहिंसा तत्व पर वैष्णव संप्रदाय में भी ज़ोर दिया है और इस संप्रदाय का प्रभाव तो पहेले से ही कबीर पर था इसलिये उस हिंसा करनेवाले मुसलमानों को फटकारा है ।

''दिनभर रोजा रहत है रात हनत है गाय
यह तो खून वह बंदगी कैसे खूसी खुदाय''[१]

हठयोग और ध्यान के ध्यान-धारणा समाधि आदि सोपान एवं इंगला, पिंगला और सुषुम्ना पर काबु पाकर कुंडलिनी जाग्रत करने की बात तथा देह के साधना के माध्यम से ब्रह्म की उपलब्धि की बात भी कबीर की साखियों में से मिलती है जैसे कि जीव को जब परब्रह्म की अनुभूति होती है तब कबीर कहता है -

- नाव में नदीयाँ डूबी जाय[२]
- पानी में आग लगी[३]
- मछली चढ़ गई पेड़ ।[४]

ब्रह्म तत्व की प्राप्ति के लिये परम-पुरुषार्थ को कबीर ने अनिवार्य माना उसे कठिन भी माना और प्राप्य भी ।

- ''जिन खोजा तिन पाइया गहेरे पानी पैठ ।''[५]

प्रभु प्राप्ति और भक्तिमार्ग में कबीरने अहं शून्यता पर भी ज़ोर दिया ।

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि है मैं नाहिं
प्रेमगली अती सांकरी तामें दोन समाई [६]।

कबीर केवल ज्ञानमार्गी ही नहीं रह सके उसने भजन और भक्ति के गाने भी बड़े प्यार से गाये हैं ।

''भजो रे भैया राम गोविन्द हरे''[७]

१-७. कबीरवाणी

कबीर का समस्त साहित्य साखी, सबद और 'रमैनी' नाम के तीन प्रकार में बांटे गये हैं । और यह सारा साहित्य उपदेश से भरपूर है । कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी की भाषा कही गई है और इसमें व्रज उपरांत अन्य कई भाषाओं का प्रभाव है ।

प्रेममार्गी शाखा :-

इस शाखा के प्रमुख कविश्री मलिक मुहम्मद जायसी है । वैसे तो कुत बन, मंझन, उसमान, शेखनबी, कासिम शाह, नुर महम्मद आदि के नाम भी आदर के साथ लिये जाते है परंतु जायसी का महाकाव्य 'पद्मावत' सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हुआ है ।

जायसी और पद्मावत :-

माना जाता है कि ये प्रसिद्ध सूफी कबीर शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे उनका जन्मकाल ९०० हिजरी माना गया है ।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पद्मावत' जिसका निर्माणकाल कविने इस प्रकार दिया है ।

'सन नौं सै सत्ताइस अहा, कथा अरंभबैन कवि कहा' ॥

जायसी उस समय के सिद्ध कवियों मे से गिने जाते थे । यह प्रेममार्गी सूफी कबीर थे । इन सूफी कवियों ने प्रेम कहानियों का आधार लेकर प्रेम का शुद्ध मार्गदर्शन किया जो जीवमात्र के लिये आवश्यक है और जीव मात्र को यह शुद्ध प्रेम की चाह भी रहती है । इस प्रेमभाव के माध्यम से इन सूफी संतोने हिन्दू - मुसलमानों के बीच में जो कट्टरता थी उसे हटाने का प्रयत्न किया । स्वयं के मुसलमान होने पर भी उन्होंने हिन्दू कथा एवं हिन्दू बोली का आधार लिया । और सहृदयता पूर्वक और सरल अभिव्यक्ति से मानव के मर्मस्थानों का स्पर्श किया ।

'पद्मावत' में चित्तौर की रानी पद्मिनी जो अत्यंत रुपवती, शीलवती और जगत की अद्वितीय नारी थी । वह सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या थी । उसके योग्य वर नहीं मिल रहा था, उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था जो वाचाल और पंडित था । यह सुआ एक दिन उड़ता उड़ता एक बहेलिये के हाथ में पड़ गया और उसने इस सुअे को चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया । उस ब्राह्मण को धन देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने इस तोते को खरीद लिया । वह धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा – एक बार राजा शिकार पर गया तब राजा की रानी नागमति ने सुअे से पूछा कि मेरे समान और कोई सौंदर्यवान नारी विश्व में है ? तब सुअेने हंसकर अपनी राजकुमारी पद्मिनी की प्रशंसा की । रानीने इर्ष्या से क्रोधित होकर दासी को आज्ञा दी कि इसे मार डालो परंतु दासीने राजा के डर से तोते को मारा नहीं और अपने घर में छिपा रखा । लौटने पर राजा सुअे के बिना बहुत व्याकुल हुआ तो दासी सुअे को ले आई और उसने राजा को सारी बात बताई पद्मिनी के रुप का वर्णन सुनकर राजा उन्हें पाने के संकल्प से जोगी होकर निकल पड़ा । राह दिखानेवाला सुआ ही था ।

अनेक कष्ट उठाने के बाद राजा सिंहल पहुँचा । वहां एक मंदिर में जोगी के वेश में राजाने पद्मावती का ध्यान किया । और सुअेने जाकर पद्मावती को सारी बात बताई । राजा के प्रेम और पुरुषार्थ के प्रभाव से पद्मावती भी उन्हें मिलने के लिये विकल हुई । मंदिर में उसका रुप देखकर राजा मूर्छित हो गया, फिर पद्मावती ने कहलवाया कि अपना सिंहल को जीतकर ही मुझे पा सकते हो तब राजा ने गढ़ पर चढ़ाई की राजा पकड़ा गया और जैसे ही उसे सूली देने का हुकम हुआ की सोलह हजार जोगियों ने गढ़ पर चढ़ाई की, और सिंहल को जीत लिया । इस चढ़ाई में महादेव, हनुमान आदि देवताओं ने भी मदद की और इस विजय के बाद राजा पद्मावती को पा सका और कुंछ दिनों के बाद दोनों चित्तौरगढ़ आये ।

रतनसेन की सभा में राघवचेतन नाम का एक तांत्रिक पंडित था, राजाने उसके जादूगर होने से नाराज होकर उसे देश निकाला दे दिया । राघवचेतन बदले की भावना से जलता हुआ दिल्लीपति अलाउद्दीन के पास पहुँचा और पद्मिनी के रूप की वहां प्रशंसा की । कामातुर अल्लाउद्दीन ने छल करके राजाको पकड़ लिया । रतन सेन मारा गया और दोनो रानियां सती हो गईं ।

इस प्रेमगाथा का आधार लेकर जायसी ने साधना के मार्ग पर उसकी कठिनाइयाँ और सिद्धि के स्वरूप आदि की स्थान स्थान पर व्यंजना की है। वैष्णव भक्ति साधना में जैसे प्रभु को पतिभाव से माना जाता है जिसे कान्ता भक्ति नाम दिया है वैसे ही मुसलमानों में इश्वर को प्रेमिका के रूप में माना गया है । वह सूफीवाद का सिद्धांत है । मेरे मत से तो यह भी मधुरा भक्ति का ही प्रकार है ।

कविने स्वयं यह पूरी कथा मात्र रूपक के रूप में ही ली है उसका तात्पर्य तो आध्यात्म मार्ग और प्रेमभाव की बात करने का ही है, यह स्पट करते हुए लिखा है कि –

''तन चित उर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनीचिन्हा
गुरु सुआ जेही पंथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमति यह दुनिया धंधा, बांचा सोई न एहिचित बंधा ।
राघवदूत सोई सैतानू, माया अलाउदीं सुलतानु ।।

इस प्रकार कठिन साधना मार्ग और उसमें आनेवाली बाधाओं का वर्णन किया है ।

कथा में प्रेमाभिव्यक्ति, लोक-प्रेमगाथाएँ एवं भाषा की सरलता तथा उच्च आध्यात्मिक भाव होने से हमारे सूफी संत भी भारत में लोकप्रिय और आदरणीय बने ।

सगुण धारा - रामभक्ति धारा

वेद और उपनिषद तथा गीता, नारद पांच्यरात्र तथा नारद तथा शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों के बाद स्वामी शंकराचार्यजीने अद्वैतवाद का निरुपण किया, परंतु इसमें भक्ति की सरलता और सुलभता न थी । सामान्यजन के लिये यह ज्ञान कठिन हो गया - भक्ति के लिये सरल पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी, और यह सं. १७७३ पृष्ठभूमि स्वामी रामानुजाचार्यने तैयार की और उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद चलाया - जिसके अनुसार - जगत् के सारे प्राणी ब्रह्म के ही अंश है और उसमें उससे ही प्राणी उत्पन्न होते है और उसमें ही लीन होते हैं । और जीव के उद्धार के लिये भक्तिमार्ग बताया और भक्ति के द्वारा अंशी में मिलकर सामीप्यलाभ (सामीप्यमुक्ति) की बात बताई । इस संप्रदाय का बड़ा प्रचार प्रसार हुआ और नारायण उसके उपास्यदेव रहे ।

उसके बाद स्वामी श्री रामानन्दाचार्यजीने-वैसे तो वे श्रीरामानुजाचार्य के मत पर ही चले परंतु उन्होंने राम का आश्रय लेकर सभी जातियों को दीक्षा देना प्रारंभ किया । जो विरक्तदल आज भी ''वैरागी'' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या और चित्रकूट इसका मुख्य धाम है । रामानंदजीने धर्ममार्ग में शास्त्रमर्यादा का पालन किया परंतु उपासना मार्ग में कोई वर्णाश्रम आदि का भेद नहीं रखा। भक्तमाल में रामानंदजी के १२ शिष्य बताये हैं ।

स्वामी श्री रामानंदाचार्य ने जो भक्ति के वृक्ष को जलसिंचन किया, इसके परिणाम रुप उनकी ही शिष्य परंपरा में इसभक्तिवृक्ष एक सुंदर, सुमधुर अमरफल लगा - जिसके माध्यम से करीब ५०० साल से भारत के लोग आनंद, शांति, संतोष और साक्षात्मुक्ति का अनुभव कर रहे हैं ।

जो फल साधन और साध्य दोनों बन गया । जिसका नाम है **'श्री राम चरित मानस'** और संत श्री तुलसीदासजी इस फल के सृष्टा और साथ साथ हिन्दी भक्ति काव्य साहित्य के ब्रह्मा भी ।[1]

तुलसी के मानस में प्रबंध काव्य सृष्टि के सभी नीति-नियमों का निर्वाह होने के साथ साथ इतने सुंदर भाव और भक्ति का सामंजस्य हुआ कि वह विश्व के धार्मिक साहित्य में धर्मग्रंथ के रुप में प्रथम पंक्ति में प्रस्थापित हो सका ।

तुलसी के जन्म और जीवन के संबंध में बहुत सी किंबदंतियाँ है परंतु अंतःसाक्ष्य और वहिर्साक्ष्य के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि उसका जन्म १५५४ में हुआ । अधिकतर मान्यताओं के आधार पर उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के राजापुर में तुलसी का जन्म स्थान माना है । पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था । अभुक्तमूल (अमंगल) नक्षत्र में पैदा होने से परिवारने उसे अमंगल बालक मानकर मुनिया नामकी दासी को सौंप दिया । कुछ वर्ष के बाद नरहरिदासने अपने साथ रखकर उन्हे शिक्षा-दीक्षा दी । फिर वे गुरु के साथ काशी आये, वहां परम पंडित शेष सनातनजी से वेद-दर्शन और इतिहास पुराणों का ज्ञानार्जन किया । फिर वे राजापुर आये और परिवार और घर को न पाकर यमुना तट पर ही रहने लगे । वहां एक भारद्वाजगोत्री ब्राह्मणने तुलसी के गुणो से प्रभावित होकर अपनी रत्नावली नाम की कन्या की तुलसीजी के साथ शादी करा दी ।

---

१. यद्यपि स्वामीरामानंदजी की शिष्यपरंपरा के द्वारा देश के बडे भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरंतर होती आ रही थी । और भक्त लोग फुटकर पदो में राम की महिमागान गा रहे थे, और हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्धमें गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ । उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा ने भाषाकाव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया । सारांश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्हीं भक्त शिरोमणि द्वारा संघटित हुआ, जिससे हिन्दी काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरंभ हुआ ।

– हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. ८६ – आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

तुलसीजी अपनी पत्नी पर अत्यंत अनुरक्त थे । एकबार पत्नी के मायके जाने पर उसके विरह में अनेक कष्ट सहन करके जब तुलसीजी उसके पीछे गये तब पत्नीने लौकिक विवेक की बात समझाते हुए उन्हें फटकारा-

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ ।
अस्थि चर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ हौति न तौ भवभीति [१]।।

पत्नी के साथ घटित हुई इस घटना के बाद तुलसीजी ने तुरन्त ही विरक्त होकर दीक्षा लेली ।

नवाब अब्दुलरहीम खानखाना, नाभाजी, महाराज मानसिंह और मधुसूदन सरस्वती आदि गोस्वामीजी के समकालीन और मित्रवर्ग में से थे ।

एक मान्यता के अनुसार संत-भक्त-कवि तुलसी को हनुमानजी की सहायता से चित्रकूट में भगवान श्रीराम का साक्षात्कार हुआ और बाद में 'मानस' की रचना हुई - तुलसी के 'मानस' से स्वयं काशीविश्वनाथ-महादेव प्रसन्न हुए और प्रकट होकर मानस में 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' लिख दिया । और फिर यह रामायण घर घर में गूँजने लगी ।

गोस्वामीजीने १२६ वर्ष की आयु भोगकर गंगा के असीघाट पर अपने शरीर को शांत कर दिया ।

गोस्वामीजी की रचनाओं में गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका और 'मानस' मुख्य ग्रंथ है । और इन ग्रंथो में काव्य में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है ।

---

१. श्री रामचरित मानस (प्रस्तावना)
- टीकाकार : हनुमानप्रसाद पोद्दार ।

समग्र हिन्दी–भक्ति साहित्य में 'रामचरित मानस' तो एक चमत्कार है । भाव–शैली–बुद्धि–कल्पना आदि साहित्य के सभी अंगों का उसमें पूरा पूरा निर्वाह होने के साथ साथ काव्य शास्त्रीय सिद्धांतो का भी निर्वाह हुआ है – अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का अर्थात् रस, छंद, अलंकार, वक्रोकि आदि से भरापूरा है ।

नीति, भक्ति, ज्ञान, व्यवहार, धर्म, आध्यात्म, दर्शन, संस्कृति, प्रेम, त्याग बलिदान, सेवा आदि गुणों का भंडार ही है तुलसी का 'मानस' ।[१]

सगुणभक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ हिन्दी साहित्य में यदि ढूंढ़ें तो 'मानस' सा दूसरा कोई नहीं प्राप्त हो सकता।

बालकांड ही वंदनभक्ति से आरंभ हुआ । बीच बीच में भी भक्ति विषयक अनेक चर्चाएँ आती हैं । और अंतमें भी शरणागति का भाव प्रकट होता है।

---

१. एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विराग पूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है तो दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्य का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है, व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्ञवल छटा उसमें वर्तमान है :–

– हिन्दी साहित्य ईतिहास : पृ. ९६ – आ. रामचंद्र शुक्ल ।

इस विषय में हम अध्याय ४ – रामचरित मानस में भक्ति शीर्षक के अंतर्गत विस्तृत रुप से चर्चा करेंगे । परंतु यहां सगुण भक्ति के कुछ उदाहरण (मानस के आधार पर) मोटे तौर पर देखेंगे ।

''बंदऊ गुरु पद पद्म परागा
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा''

– बालकांड (गुरुभक्ति)

बिनु सतसंग बिबेक न होई
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई

बा.कां. संतभक्ति

''नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगम्

– इष्टभक्ति – अ.कां.

सुनहु राम अब कहहूं निकेता
बसहुं जहां सिय लखन समेता
जिनके श्रवण समुद्र समाना
कथा तुम्हारि सुभ सरी नाना

– अ.कां. भक्तलक्षण

भक्ति के साधन कहहुं बखानी
सुगम पंथ मोहि पावही प्रानी

– अरण्यकांड

सनमुख होई जीव मोहि जबही
जन्मकोटि अघ नासहिं तबही
जनम जनम मुनि जतन कराहीं
अंतराम कहि आवत नाहीं

– किष्किन्धा आत्मनिवेदन

अब मोहि भा भरोस हनुमंता
बिनु हरिकृपा मिलही नहीं संता

- सुंदरकांड - विश्वास-श्रद्धा

लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप शर चंड
भजसिन मन तेहि राम को काल जासू कोदंड ।

- लङ्काकांड - प्रभु का सामर्थ्य

ज्ञानहिं भक्ति ही हीं कछु भेदा
उभय हरकी भव संसय खेदा

- उत्तरकांड - भक्ति की सत्ता

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मानस में आदि से अंत तक पग पग पर भक्ति का दर्शन होता है । और साथ साथ लौकिक विवेक को ध्यान में रखकर लोकहित में तुलसीजीने भातृभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि के आदर्श भी खड़े किये है जिन्हें हम आगे देखेंगे ।

कृष्णभक्ति शाखा

वैष्णवधर्म आंदोलन - १५वीं और १६वी शताब्दी में वल्लभाचार्यजी प्रमुख प्रवर्तक रहें ।

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक के दार्शनिक आचार्यों का एक ही ध्येय था कि आद्यशंकराचार्य के अद्वैतवाद से - कठिन तत्वज्ञान से लोगों को छुड़ाकर आमव्यक्ति के लिये भक्ति की स्थापना ।

वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म कहलाते थे और दिव्यगुणों से पुरुषोत्तम तथा सच्चिदानंद कहलाते थे । जो भक्तों के लिये ही लीलाएँ एवं क्रीडाएँ करते हैं - गोलोक व्यापी वैकुंठ एक खंड है और जहां नित्य ही यमुना, वृंदावन, निकुंज आदि है और प्रभु की यह जो नित्यलीला सृष्टि में प्रवेश करता है वह जीव धन्य और शुभगतिवाला कहलाता है । और यही श्रेष्ठगति है ।

जिसे सालोकमुक्ति कही गई है । - और इस प्रकार शंकराचार्य के निर्गुण प्रचार के सामने बड़े तौर पर सगुण का प्रचार शुरु हुआ । प्रेमलक्षणा भक्ति पर ज़ोर दिया गया और श्रद्धा तथा पूज्य भाव को सहायक तत्व माना गया ।

प्रेमसाधना में वल्लभ ने लोकमर्यादा और वेदमर्यादा की बातों को छोड़कर 'पुष्टिभक्ति' का प्रचार किया। और इसका सिद्धांत दिया गया कि 'जो जीव परमात्मा को परम प्रेम करता है और भक्तिमय होता है तब समझना कि उस पर भगवान का अनुग्रह हुआ है और इसे 'पोषण' या पुष्टि कहा गया ।' इस भक्तिमार्ग का नाम भी 'पुष्टिमार्ग' दिया गया ।

तत्कालीन राजकीय सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति को देखते हुए वल्लभाचार्यने यह मार्ग योग्य ही अपनाया, क्योंकि एक ओर अद्वैतवाद और निर्गुणपंथ के संत के प्रभाव से और प्राचीन विधि विधान में जुटे हुए लोगों की आस्था सगुण में से टुट रही थी, दुसरी ओर मुसलमानी साम्राज्य का प्रभाव बढ रहा था। इस्लाम अपने प्रचार के लिये हिन्दु धर्म को मिटाना चाहते थे । और एक तरफ सूफी वाद के परम प्रेमतत्व के प्रचार का भी अच्छा प्रभाव था ऐसी स्थिति में वल्लभाचार्य को 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना और प्रचार के लिये अच्छी पृष्ठभूमि प्राप्त हुई और पुष्टिमार्ग को पुष्टि मिली ।

उन्होंने राष्ट्रीय पर्यटन के बाद कृष्णभूमि को ही अपना प्रमुख स्थाना बनाया।[१] वहां श्रीनाथजी का बडा मंदिर बनाकर सेवाभक्ति पद्धति में भोग, राग तथा विलास की प्रधानता रही । इसका अनुयायी वर्ग पर अच्छा प्रभाव पड़ा - संगीत को प्रधानता देकर कृष्ण भक्ति के पदों द्वारा लोकजीवन में सरसता और आनंद लाने का प्रयत्न किया गया और इसमें अन्य कृष्ण भक्तों का भी प्रशंसनीय सहयोग रहा ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल - पृ. १०८

वैसे तो भागवत धर्म का प्रचार महाभारत और भागवत के युग से ही हो चुका था परंतु वैष्णवधर्म की प्रशाखा के रुप में पुष्टिधर्म के प्रचार के बाद तो कृष्ण लोकनायक या 'जगतगुरु' न रहते एक परम मधुर प्रेमी के रुप में ही प्रचलित हुए और प्रायः सभी कृष्ण भक्तों ने कृष्ण के श्रृंगार पक्ष को ही लेकर राधाकृष्ण प्रेमप्रधान पदों की ही रचना की ।

सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा के कुछ कवियों में सूरदास, नंददास, कृष्णदास, परमानंददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, हितहरिवंश गदाधरभट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, रसखान आदि के नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है । जिनमें सूरदासजी का नाम सर्वोपरि है ।

श्रीराम भक्ति शाखा और श्रीकृष्णभक्ति शाखा के दो प्रमुख कवि संत श्री तुलसी और सूरदास जी के बारे में अतिप्रचलित दोहा है कि –

''सूर सूर तुलसी शशी....'' ।

संतसूरदास

आगरा और मथुरा के बीच का एक स्थान गौघाट पर एक साधु रहते थे और उस स्थान पर एकबार स्वामी वल्लभाचार्य को पधारने पर इस संतने उन्हें अपना एक पद सुनाया । आचार्यजीने प्रसन्न होकर उन्हें अपना शिष्य बनाया और श्रीकृष्ण की लीलाओं पर पद रचने का आदेश दिया । उपरांत उसकी भक्ति और योग्यता देखकर अपने मंदिर की कीर्तनसेवा सौंप दी ।[1]

१५८० के आसपास उसने आचार्यजी का शिष्यपद स्वीकार किया ।

'सूरसागर' और 'सूरसागर सारावली'' ये दो सूरदासजी के प्रमुख ग्रंथ माने गये हैं । 'सूरसागर सारावली'– मे उसने अपनी आयु उसवक्त ६७ वर्ष की बताई है ।

---

१. चोर्यासी वैष्णव की वार्ता ।

''गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन'', परंतु विविध विद्वानों के मत से उनकी कुल आयु ८० वर्ष की मानी गई है । जन्मकाल १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल १६२० के आसपास माना गया है ।[1]

कृष्णभक्ति और कृष्णप्रेम के पदों में जयदेव और विद्यापति का ही अनुसरण करके परवर्ती सभी भक्त कवियों ने गीतिकाव्य पद्धति का ही ज्यादातर स्वीकार करके मुक्तक काव्यधारा में ही सारा साहित्य बहने लगा । कृष्णलीला, कृष्णप्रेम, परकिया भाव और प्रेमलक्षणाभक्ति उस साहित्य का मुख्य लक्ष्य रहा ।

कृष्णचरित्र की एक एक लीलाओं को जो सूर का स्पर्श हुआ तो मानो वह साकार बनकर हमारे सामने आ गई ! अच्छे अच्छे विद्वानों ने इस महाकवि को सराहा है ।

बालमनोविज्ञान का जितना सजीव और मनोहर चित्रण सूर ने किया है ऐसा चित्रण अन्यों के साहित्य में ढूंढने का श्रम ही वृथा है ।

---

१. जन्मस्थान की भांति जन्मतिथि के विषय में भी विभिन्न मत मिलते है । जैसे जन्म स्थान के विषय में 'सीही' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । इस प्रकार जन्मतिथि का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । केवल अनुमान के बल पर अनेकमतों की चर्चा मिलती है ।

– 'सूर पद मालिका' – डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी – प्र.सं. ४

सूर के पदों में जैसा वात्सल्यभाव और बाललीला वर्णन है वह अद्‌भुत और अनूठा है – बालक के मनोभावों का वर्णन बढ़कर कृष्ण की बालमूर्ति हमारे सामने साकार हो उठती है । जैसे –

''मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो,
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं
बरबस मुंह लपेटायो..... मैया.....''[१]

''मैया कबहू बढ़ेगी चोटी !
कितनी बार मोहि दूध पियत भई,
अजहू रही वह छोटी.....''[२]

''यशोदा हरि पालने झुलावे'' ....[३]

वात्सल्य के भांति ही श्रृंगार रस और श्रृंगार के दोनों पक्ष पर मानों सूर ने एकाधिकार जताया हो ऐसा लगता है। दानलीला, माखनलीला, चीरहरणलीला, रासलीला आदि अनेक लीलाओं के रसपूर्ण अनेक पदों में अन्य रसों के साथ अधिकतर श्रृंगार का निर्वाह हुआ है ।

''देखि री ! हरि के चंचल नैन,
खंजन नीन–मृगज–चपलाई नहिं पटतर एक सैन ।''[४]

'मेरे नैन विरह की बेल भई
सींचत नैन नीर के, सजती ! मूले पतार गई ।[५]

कृष्ण को सहज ही प्राप्त न कर सकनेवाली गोपीयां सदाश्यामसंगसुहावनी मुरली की कैसी मीठी ईर्ष्या कर रही है ! इसका एक उदाहरण –

१–५. सूरपदमालिका

''मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखी, यदपि नंदनंदनहिं नाना भांति नचावति ॥[१]
राखति एकपायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावती
आपुनि पौढ़ि अधर सज्ञापर करपल्लव सों पद पलुटावति ॥[२]
भ्रुकुटी कुटिल कोप नासापुट हम पर कोपि कंपावती ॥[३]

यमुनातट पर की रासलीला के वर्णन में तो सूर ने अपने शब्दों के माध्यम से हमको एक दिव्य प्रेमलोक की यात्रा बंद नेत्रो से कराई है ।

संयोगश्रृंगार में केकिविलास, रास, छेड़छाड़, रुठना-मनाना आदि, तो दूसरी ओर वियोग शृंगार में विरह की सभी दशाओं का शब्दचित्रण अद्भुत है । और यह सब भावों के साथ साथ वैष्णव पुष्टिमार्ग का प्रमुख ध्येय, सगुण की उपासना और सगुण प्रचार प्रसार उसका भी पूरी तरह से ध्यान रखा गया है । अथवा सहज ही संम्मिलित हुआ है ।

''मधुबन ! तुम कत रहत हरे !
विरह वियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
''उधो स्यामहिं तुम लै आओ.....[४]
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
''उधो मन न भये दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अराधै ईस ?
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
''निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हांसी ।''[५]
सुनि है कहा कौन निर्गुण की रचि पचि बात बनावत
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत तुम तृन की ओट दुरावत''[६]
रेखन रुप, बरन जाकैं नहिं, ताको हमैं बतावत ?

१-६. सूरपदमालिका

उद्धव की निर्गुण स्वरुप की बातों से तो गोपियों का सगुण कृष्ण की अवगुण कथा सुननी अच्छी लगती है –

'ऊधौ कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद

सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुण तें अति स्वाद' –[१]

इन पंक्तियों में सगुण के प्रति प्रेम पराकाष्ठा पर पहुँच गया है और अच्छे ढंग से निर्गुण की अवहेलना भी ।

सूरदास की भांति अष्टछाप के सभी संत कवि भक्तों ने कृष्णभक्ति और कृष्ण प्रेम के ही पद लिखे वैष्णव परंपरा के संतो पर तो यह काव्य रचना की प्रेरणा मिलना और प्रभावित होना स्वाभाविक था परंतु कुछ मुसलमान कवि भी श्रीकृष्ण के मनमोहक स्वरुप में मोहित होकर कृष्णभक्ति पद लिखने लगा। इन कवियों में 'रसखान' का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है ।

रसखान :-

दिल्ली के पठान सरदार रसखान की एकबार किसी का ताना सुनकर प्रभु को ढूंढते गोकुल, चले आये। उनकी दो कृतियां प्रमुख रुप से मानी जाती हैं (१) प्रेमवाटिक (२) सुजान रसखान ।

व्रजभूमि के कृष्ण पर रसखान अपने को फिदा कर बैठे हैं । रसखान मानों सवैये का पर्यायवाची बन गया । उसके सवैये में श्रृंगार के साथ साथ अनन्यभक्ति भाव का भी दर्शन होता है ।

'मानुष हौं तौ वही रसखान बसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन'
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौ नित नंद की धेनु मंझारन
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन
जौ खग हौं तौ बसेरौ करौ मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन [२]।।

---

१. सूरपदमालिका

२. रसखान और उनके काव्य

उपर्युक्त सवैये में किसी भी स्वरुप में जो कृष्णप्राप्ति की छटपटाहट है, ये अनन्य है ।

कृष्ण के एक बालस्वरूप पर न्योछावर हो जाने की दिव्य भावना को देखिये -

"या लकुटी और कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,"[1]

रसखान के मत से भगवान कोई वेद शास्त्र और पुराण में नहीं है परंतु प्रेम के ही वश है ।

ब्रह्म मैं ढूंढयौ, पुरानन गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यो सून्यो कबहूँन कहूँ वह कैसे सरुप और कैसे सुभायन [2]।।
हेरत हेरत हारि पर्‍यो, रसखान बतायौ न लाग लुगायन ।
देख्यौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठौ पलोटत राधिका पायन [3]।।

पर ब्रह्म की भाववशता का एक और उदाहरण - जिनमें भाव के साथ कलापक्ष भी परिपूर्ण है।

सेस महेस गनेस दिनेस सरेसहु जाहि निरंतर - ध्वावैं ।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ।
नारद से सुक व्यास रटैं पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि आहीर की छोहरियाँ छछिया - भर छाछ पै नाच नचावैं ।[4]

प्रभु प्रेम में मरमिटनेवाला ही अमर हो जाता है इस बात को कितने अनूठे ढंग से बताई है :-

प्रेम फाँस सों फँसि मरै, सोई जियै सदाहि ।
प्रेम मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहि ।।[5]

१-५. रसखान और उनके काव्य

इस प्रकार कृष्णभक्ति साहित्य में एक मुसलमान संत का भी योगदान कम नहीं है ।

मीराबाई

बचपन से ही कृष्णभक्ति में पागल, मेडतिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और राव जोधाजी की प्रपौत्री तथा जयपुर के महाराज महाराणा भोजराज की महाराणी मीरा मोहन की मोहनी में मुग्ध होकर माया से मुंह मोड़कर मिल जाती है माधव में-जैसे महि और महासागर का मिलन!

भक्तिमार्ग की अनुगामिनी मीरा का भक्ति उन्माद जब राजमर्यादा के विरुद्ध माना गया तब वह लोकनिंदाभाजन बनी - यहां तक कहा जाता है कि विष आदि देकर कई बार उसे मारने के प्रयास किये गये, परंतु प्रभु कृपा से वह प्रहलाद की भांति सुरक्षित रही ।

अंत में परिवार के सभ्यों के व्यवहार से विकल होकर मीरां ने घर छोड़ा - वृंदावन और द्वारिका में जाकर कृष्णभक्ति और भजन की धूम मचाई । लोगों ने उन्हें बहुत सम्मान दिया । घर छोड़ने से पहले उसने तुलसीजी से पत्र भेजकर घर छोड़ने के विषय में उनकी राय भी मांगी और तुलसी ने जवाब भी दिया कि -

''जाके प्रिय न राम वैदेही ।

सो नर तजिय कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ।''[१]

- और इसमें प्रह्लाद, विभीषण ध्रुव आदि के उदाहरण को देखकर मीरा ने मेवाड़ छोड़ा ।

एक जन श्रृति के अनुसार मीरा ने १६४३ में द्वारका में अपने शरीर को शांत किया । मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी इसलिये 'प्रेमदिवानी' मीरा का पर्याय बन गया । मीरा के चार ग्रंथ कहे जाते हैं ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(१) नरसीजी का मायरा, (२) गीत गोविंद टीका (३) राग गोविंद (४) राग सोरठ के पद ।

प्रभु चरणों में पूर्णरूप से समर्पित मीरा के शब्दों की गरिमा देखो !

– "मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई"[1]

ऐसा अनन्य भाव मीरा के सिवा कहां प्रकट हो सकता है ?

बसौ मेरे नैनन में नंदलाल ।

मोहनि मूरत, साँवरि सूरत, नैना बने रसाल ।।[2]

मन रे परसि हरि के चरन

सुभग सीतल कमल कोमल – त्रिविध ज्वाला हरन ।।[3]

इस प्रकार पुरुष कवि भक्तों की पंक्तिमें उस समय में मीरा अपनी भक्ति के बल से महिला-संत-कवियित्री के रुप में प्रथम पंक्ति में अपना स्थान बना पाई – ये पूरे महिला समाज के लिये गौरव की बात है ।

सगुण और निर्गुण धारा के प्रमुख संतकवि श्री कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, रसखान, मीरा के उपरांत भी हिन्दी भक्ति साहित्य में कविगंग, जमाल, केशवदास, रहीम, बनारसीदास, सेनापति, सुंदरदास आदि के नाम भी गणनापात्र है ।

१-३. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल